प्रस्तुत पुस्तक में.....

आचार और विचार श्रुत देवता की दो आँखें हैं। दशवैकालिक, आचारांग आदि आगम आचार-प्रधान हैं, सूत्रकृतांग, भगवती आदि विचार-प्रधान।

प्रस्तुत सूत्र जैन श्रमण के आचार का मुख्य ग्रन्थ है, अतः इसे मूल आगमों में गिना गया है।

अहिंसा, जीवदया, भिक्षाविधि, वाक्यप्रयोग, विनय-व्यवहार तथा सामान्य आचार का सुन्दरतम एवं उपयोगी विवेचन प्रस्तुत सूत्र 'दशवैकालिक' का विषय है

आचार की शिक्षा देने वाला यह 'गागर में सागर' रूपी आगम है।

मूल्य : पन्द्रह रुपये मात्र



मरुधरकेशरी, [illegible]
मुनिश्री मिश्रीमल जी

दशवैकालिक
सू[illegible]

दशवैकालिक सूत्र

भगवान महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य में

आर्य शय्यम्भव-संग्रथित

श्री दशवैकालिक सूत्र

[मूल-संस्कृतछाया-भाषापद्य-हिन्दी अनुवाद
विशेष परिशिष्ट समन्वित]

संपादक

प्रवर्तक, मरुधरकेसरी, आशुकविरत्न

मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज

प्रकाशक :

श्री मरुधरकेसरी साहित्य-प्रकाशन समिति,

ब्यावर [राजस्थान]

द्रव्यसहायक

श्रीमान् शा० रतनलाल जी पारसमल जी चतर
मेवाड़ी बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

प्राप्तिस्थान

श्री मरुधरकेसरी साहित्य-प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार, ब्यावर [राजस्थान]

संप्रेरक

विद्याविनोदी श्री सुकनमुनि जी

प्रस्तावना लेखक

पं० हीरालाल जी शास्त्री, ब्यावर

मुद्रक

श्रीचन्द सुराना 'सरस' के लिए
श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस, आगरा

मूल्य : पन्द्रह रुपये सिर्फ, १५·००



आशुकविरत्न, प्रवर्तक, गुरुदेव, मरुधरकेसरी
श्री मिश्रीमल जी महाराज

प्रकाशकीय

विशाल प्रासाद में जो स्थान- नींव का है, महावृक्ष में जो महत्व मूल—जड़ का है, आगमरूप महावृक्ष में वही स्थान—दशवैकालिकसूत्र का है, इसलिए इसे चार मूल सूत्रों में द्वितीय स्थान प्राप्त है। यह सूत्र मुख्यतः आचारप्रधान है। और आचार ही द्वादशांग का सार है—**अंगाणं किं सारो ? आयारो !**—आचार्य भद्रबाहु का यह कथन आचार या आचारांग की महत्ता को स्पष्ट करता है।

दशवकालिक सूत्र के छोटे-बड़े अनेक संस्करण अब तक हो चुके हैं। दीक्षा के बाद श्रमण शैक्ष सर्वप्रथम इसी सूत्र को कंठस्थ करते हैं। आचार-विधि के परिज्ञान हेतु इस आगम का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

दशवैकालिक सूत्र का संस्कृत छाया के साथ राजस्थानी काव्यमय यह अनुवाद अपने ढंग का पहला ही शुभ-प्रयत्न कहा जा सकता है। भाषा-पद्यों की शैली बड़ी मनोरम काव्यात्मक और हृदयग्राही है, उनके अध्ययन में मूल का-सा रसानुभव होता है। हिन्दी अनुवाद तो और भी सरल तथा हृदयग्राही है। परिशिष्ट भी अपने ढंग का संक्षिप्त होकर भी उपयोगी है। इस प्रकार गुरुदेव द्वारा प्रस्तुत यह सम्पादन सभी दृष्टियों से मौलिक एवं उपयोगी सिद्ध होगा।

गुरुदेव श्री मरुधरकेसरी जी महाराज स्थानकवासी जैन समाज की एक विरल विभूति हैं। विद्वत्ता के साथ सरलता, गुणानुराग, शिक्षाप्रेम, समाजसेवा तथा समाज-संगठन की उदात्त उमंग आपके जीवन की अद्वितीय विशेषता है। आप वाणी के धनी हैं, बुद्धि के पुंज हैं, ओजस्वी वक्ता और महान् कवि हैं। आप अपने आप में एक संस्था ही क्या, संस्थाओं की एक केन्द्रीय शक्ति हैं। राजस्थान के अंचल में आप द्वारा संस्थापित-संप्रेरित सैकड़ों ही संस्थाएँ कार्यशील हैं। जिनमें से कुछ नाम इस प्रकार हैं—

सादड़ी— श्री स्थानकवासी लोंकाशाह जैन गुरुकुल,
श्री स्थानकवासी वर्धमान आयम्बिल खाता,
श्री स्थानकवासी जैनहितेच्छु कन्याशाला,
श्री स्थानकवासी जैन महावीर भवन,

राणावास— श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन शिक्षणसंघ
श्री मरुधरकेसरी उच्चतर माध्यमिक विद्यालय,
थानचन्द महता-कलाकेन्द्र,
आचार्य श्री भूधर जैन औषधालय,
आचार्य श्री रघुनाथ जैन वाचनालय,

सोजतसिटी— आचार्य श्री रघुनाथ जैन स्मृति राजकीय चिकित्सालय,
आचार्य श्री रघुनाथ जैन पुस्तकालय,
श्री वर्धमान जैन आयम्बिल खाता,

सोजतरोड— श्री महावीर मंडप,
(भगवान महावीर के जीवन की चित्रमय झांकी)
श्री नेमिचन्द्र बांठिया जैन व्याख्यानभवन

बगड़ी— श्री मरुधर पारमार्थिक संस्था,
श्री केसर बाई अमरशाला,

जैतारण— श्री स्थानकवासी जैन गौशाला,
श्री मरुधरकेसरी स्थानकवासी जैन छात्रावास,

चंडावल— श्री महावीर जैन गौशाला,

जालौर— श्री महावीर जैन गौशाला,
श्री महावीर जैन उद्योगशाला,

जोधपुर— श्री पारमार्थिक जैन महिला मंडल,
श्री जैन बुधवीर स्मारक मंडल,

ब्यावर— श्री वर्धमान जैन आयम्बिल खाता,
श्री स्थानकवासी जैन स्वधर्मी सहायक ट्रस्ट,
श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति,

थामला— राजकीय जैन औषधालय,

भरतपुर— श्री स्थानकवासी बुधमुनि जैन छात्रावास।

इस प्रकार गुरुदेव की प्रेरणा से राजस्थान के कोने-कोने में शिक्षा, सेवा एवं साहित्य की अखंड ज्योति प्रज्वलित हो रही है।

प्रस्तुत आगम का प्रकाशन हमारी संस्था का एक भव्य प्रयत्न है। यद्यपि अबतक लगभग ४०-४५ पुस्तकें संस्था से प्रकाशित हो चुकी हैं--जिनमें 'मरुधर-केसरी अभिनन्दन ग्रंथ' जैसा विशालकाय ग्रंथ और 'जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण' जैसी शोध पुस्तकें भी हैं किन्तु आगम-प्रकाशन की हमारी चिरकालीन भावना अब इसी आगम से मूर्तरूप पकड़ रही है। इस प्रकाशन के पश्चात हम अति शीघ्र ही उत्तराध्ययन सूत्र तथा जैन कर्मसिद्धान्त का दुर्लभ एवं अपूर्व ग्रन्थ 'कर्मग्रन्थ' विस्तृत व्याख्या एवं महत्वपूर्ण भूमिकाओं के साथ पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करने का सकल्प कर रहे हैं। भगवान महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी वर्ष में हमारा यह प्रयत्न अपना ऐतिहासिक महत्व स्थापित करेगा और पाठकों की ज्ञान-पिपासा को परितृप्त करेगा, इसी आशा के साथ......!

मंत्री

श्री मरुधरकेसरी साहित्य-प्रकाशन समिति

आभार-दर्शन

प्रस्तुत आगम 'दशवैकालिकसूत्र' के प्रकाशन में श्रीमान् रतनलाल जी चतर ने पूर्ण अर्थसहयोग प्रदान कर संस्था के प्रकाशनों की परम्परा को सुदृढ़ बनाया है। एतदर्थ हम आपके आभारी हैं तथा आपके अनुकरणीय उदार सहयोग का हार्दिक अनुमोदन करते हैं।

आप एक सरलमना धार्मिक प्रकृति के सज्जन पुरुष हैं, देवगुरु के भक्त, निरभिमानी और मिलनसार हैं। अपने पुरुषार्थ एवं व्यापार-कुशलता से आपने लक्ष्मी भी अर्जित की है और कीर्ति भी। आपके परिवार का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

पिता—श्री विजयलाल जी चतर,
माता—श्रीमती नजरबाई,
जन्म—वि० सं० १९८८, पोषसुदि ७, पडांगा (अजमेर)
भाई—श्री प्रेमचन्द जी,
पुत्र पारसमलजी, राजेन्द्र कुमार जी,
पुत्रियां सज्जनकुंवर, उषा, ममता,

वि० सं० २००२ से आप ब्यावर में आड़त का व्यापार करते हैं। व्यापारिक प्रतिष्ठानों के पते इस प्रकार हैं—

ब्यावर : १ चतर एण्ड कम्पनी, मेवाड़ी बाजार — फोन : 567 दुकान, 557 घर; तार : पारस

२ पारसमल पवनकुमार, मेवाड़ी बाजार,
३ धीसालाल कनकमल, मेवाड़ी बाजार,

जयपुर— पारसमल एण्ड कंपनी, नई अनाजमंडी, चांदपोल, — फोन : 76423; तार : चतर



उदार सहयोगी

धर्मप्रेमी उदारचेता

श्रीमान रतनलाल जी सा० चतर

सेवा-परायण धर्मशीला

श्रीमती उमरावकुंवर बाई चतर

[धर्मपत्नी श्री रतनलाल जी चतर]

प्रस्तावना

— पं० हीरालाल जी शास्त्री

आगमों के सम्बन्ध में श्वेताम्बर-परम्परा में दो मान्यताएँ प्रचलित हैं—

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक-परम्परा—११ अङ्ग, १२ उपांग, ४ मूल. २ चूलिका-सूत्र, ६ छेद सूत्र और १० प्रकीर्णक—यों ४५ आगम मानती है।

श्वेताम्बर स्थानकवासी व तेरापंथी-परम्परा ११ अंग, १२ उपाग, ४ मूल, ४ छेद, १ आवश्यक यों ३२ आगमों को प्रमाणभूत मानती है।

दशवैकालिक—४ मूल आगमों में उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नंदीसूत्र व अनुयोगद्वार आते हैं। दशवैकालिक की संरचना आर्य शय्यंभव ने की है और यह श्वेताम्बर-परम्परा का आचारविषयक अत्यन्त उपयोगी तथा महत्वपूर्ण संकलन है। इसके आज तक अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं जो प्राकृत-संस्कृत टीकाओं तथा हिन्दी अर्थ-विशेषार्थ के साथ हैं। इनमें विशालकाय संस्करणों से लेकर मूलमात्र के लघु संस्करण भी सम्मिलित हैं। यह सूत्र जैन-परम्परा में सर्वाधिक प्रचलित है और प्रायः सभी साधु-साध्वी एवं अनेक वैरागीजन दीक्षित होने के पूर्व या पश्चात् इसको पढ़कर कण्ठस्थ रखते हैं एवं तदनुसार चलने का प्रयत्न करते हैं। निर्माण-काल से ही यह साधुजनों का सम्मान्य एवं अत्यन्त प्रिय ग्रन्थ रहा है। रचनाकाल के पश्चात् इस पर अनेक चूर्णियां, टीकाएँ, टब्बा और टिप्पण लिखे गये हैं। उनमें से कुछ का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. **निर्युक्ति**— भद्रबाहु द्वितीय ने दशवैकालिक पर सर्वप्रथय निर्युक्ति लिखी। यह पद्यात्मक है और इसकी गाथाओं का परिमाण ३७२ है। इसका रचना-काल विक्रम की पांचवी-छठी शताब्दी है।

२. **भाष्य**- यह पद्यात्मक व्याख्या है। इसकी भाष्य-गाथाएँ केवल ६३ हैं। चूर्णिकार अगस्त्यसिंह ने अपनी चूर्णि में इसका कोई उल्लेख नहीं किया है। पर टीकाकार हरिभद्रसूरि ने भाष्य और भाष्यकार का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है। अतः इसकी रचना निर्युक्तिकार के बाद और चूर्णिकार के पूर्व हुई है।

हरिभद्रसूरि ने जिन गाथाओं को भाष्यगत माना है, वे चूर्णि में पाई जाती हैं, इससे ज्ञात होता है कि भाष्य-गाथाकार चूर्णिकार से पूर्व हुए हैं।

३. **प्रथम चूर्णि**—आ० अगस्त्यसिंह ने इसकी रचना प्राकृत में की है। यह सर्वाधिक मूलस्पर्शी एवं विशद है। इतिहासज्ञ विद्वान् इसे विक्रम की छठी-सातवीं शताब्दी के मध्य रचित अनुमान करते हैं।

४. **द्वितीय चूर्णि**—जिनदास महत्तर ने इसे प्राकृत में लिखा है। इसका रचनाकाल विक्रम की सातवीं शताब्दी माना जाता है।

५. **विजयोदया टीका**—यापनीय संघ के आचार्य अपराजितसूरि ने इसे संस्कृत में लिखा और अपनी मूलाराधना टीका में इसका उल्लेख किया है। अभी तक यह अनुपलब्ध है। अपराजितसूरि का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी है।

६. **हारिभद्रीय वृत्ति**—इसे याकिनीसूनु हरिभद्र ने संस्कृत में रचा है। इनका समय विद्वानों ने वि० सं० ७५७ से ८२७ तक का निश्चय किया है।

तत्पश्चात् विक्रम की तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में **तिलकाचार्य ने, पन्द्रहवीं** शताब्दी में आचार्य **माणिक्यशेखर** ने, सोलहवीं शताब्दी में **विनयहंस** ने, सत्तरहवीं शताब्दी में **श्री समयसुन्दर** और **श्री रामचन्द्रसूरि** ने, अठारहवीं शताब्दी में **श्री पायसुन्दर** और **श्री धर्मचन्द्र** ने टीका, टब्बा आदि संस्कृत एवं गुजराती मिश्रित राजस्थानी भाषा में लिखे। इससे इसकी सार्वकालिक लोक-प्रियता सिद्ध है।

श्रुत का उद्भव एवं दशवैकालिक का उद्गम स्थान

यों तो भाव श्रुतज्ञान अनादि-निधन है। किन्तु कर्मभूमि में उसका प्रकाशन तीर्थंकरों के द्वारा होता है, अतः वह सादि भी कहा जाता है। भगवान् महावीर ने कैवल्य-प्राप्ति के पश्चात् धर्म और उसके कारणभूत तत्त्वों की देशना की। इन्द्रभूति गौतम ने उसे सुनकर द्वादश अंगों में निबद्ध किया। उन्होंने समय-समय पर दिये गये समस्त प्रवचनों का समावेश आचारांग आदि बारह अंगों में किया, अतः वे अंगप्रविष्ट के नाम से प्रसिद्ध हुए।

द्वादशाङ्ग-श्रुत के साधु आचार के उपयोगी सारांश को लेकर दशवैकालिक-सूत्र की रचना की गई है। इसके विषय में दशवैकालिक-निर्युक्तिकार लिखते हैं—

आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती।
कम्मप्पवायपुव्वा पिण्डस्स उ एसणा तिविहा ॥१६॥
सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ ॥१७॥

अर्थात्— धर्मप्रज्ञप्ति या छज्जीवनिका नामक चौथा अध्ययन आत्मप्रवादपूर्व का निर्यूढ या निर्यूहण है, पिण्डैषणा नामक पांचवां अध्ययन कर्मप्रवाद का, वाक्यशुद्धि नामक सातवां अध्ययन सत्यप्रवादपूर्व का निर्यूहण है और शेष सभी अध्ययन नवें प्रत्याख्यानपूर्व की तीसरी वस्तु के निर्यूहण हैं।

इसके साथ दशवैकालिक के निर्युक्तिकार यह भी लिखते हैं—

बीओ वि य आएसो गणिपिडगाओ दुवालसंगाओ ।
एअं किर निज्जूढा मणगस्स अणुग्गहट्ठाए ॥१८॥

अर्थात्—अपने पुत्र मनक के अनुग्रहार्थ आ० शय्यम्भव ने इसे पूरे द्वादशांग-रूप गणिपिटक से निर्यूहण किया, एक ऐसी भी मान्यता है।

वर्तमान में दृष्टिवाद अंग अनुपलब्ध है। हां, दशवैकालिक के समान उसके विभिन्न पूर्वों के आधार पर रचित अनेक खंड आगम और ग्रन्थ पाये जाते हैं।

नामकरण—

प्रस्तुत सूत्र के अगस्त्यचूर्णि में तीन नामों का उल्लेख है—**दसकालिय** (दशकालिक) **दसवेयालिय** (दशवैकालिक) और **दसवेतालिय** (दशवैतालिक)। यतः यह चतुर्दश पूर्वीकाल से आया हुआ है, अतः इसका नाम कालिक है और इसके दश अध्ययन हैं, अतः यह दशवैकालिक है अथवा इसकी रचना का प्रारम्भ विकाल (अपराह्णकाल) में हुआ और पूर्ति भी विकाल में हुई, अतः इसका नाम दशवैकालिक है। वैकालिक इसलिए इसे कहा गया है कि गणधर पूर्वाह्ण में आगमों की रचना करते हैं। किन्तु ग्रन्थकार का पुत्र मनक मध्याह्न काल में उनके पास पहुंचा था और उसे अल्पायुष्क जानकर उन्होंने काल व्यतीत करना उचित नहीं समझा और अपराह्णकाल में ही उसके सम्बोधनार्थ इसकी रचना प्रारम्भ कर दी थी। तीसरे नाम का कारण बतलाते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि यतः इसका दशवां अध्ययन 'वैतालिक' नाम के वृत्त (छन्द) में रचा गया है, अतः इसका नाम दशवैतालिक भी है।

उपर्युक्त तीनों नामों में से पहिले और तीसरे नाम को छोड़कर दूसरे नाम से ही यह सूत्र जैनपरम्परा की सभी शाखाओं में प्रसिद्ध है।

सूत्रकार और सूत्र-निर्माण का निमित्त

नन्दीसूत्र की पटटावली के अनुसार इसके रचियता आचार्य शय्यम्भव भगवान महावीर के चतुर्थ पट्टधर थे। जब ये गृहावास में थे, तब तीसरे पट्टधर प्रभवस्वामी के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि मेरा पट्टधर होने के योग्य मेरे शिष्यों में कौन है? उन्होंने अपने शिष्यों पर दृष्टि डाली, पर पट्टधर होने के योग्य किसी

भी शिष्य को नहीं पाया। तब समीपवर्ती प्रदेशवासी गृहस्थों की ओर दृष्टि दौड़ाई और उन्हें राजगृह निवासी शय्यम्भव ब्राह्मण योग्य दृष्टिगत हुआ। वह अनेक विद्याओं का पारगामी था। प्रभवस्वामी ने अपने दो शिष्यों को उसके पास भेजा और आचार्य के निर्देशानुसार उन्होंने शय्यम्भव के पास जाकर कहा– 'अहो कष्टमहो कष्टं तत्त्वं न ज्ञायते परम्'। शय्यम्भव यह सुनकर सोचने लगा ये परम शान्त साधु असत्य नहीं बोल सकते। अवश्य ही इनके ऐसा कहने में कोई रहस्य है। वह तुरन्त अपने गुरु के पास गया और पूछा— असली तत्त्व क्या है ? गुरु ने कहा – 'तत्त्व वेद है'। शय्यम्भव ने म्यान से तलवार निकालकर कहा—'असली तत्त्व क्या है, वह बतलाइये, अन्यथा इसी तलवार से सिर उड़ा दूंगा।'

गुरु ने सोचा— वेदार्थ-परम्परा के अनुसार सिर कटने का अवसर आने पर तत्व बतला देना चाहिए। यह सोचकर उसने कहा—'तत्त्व आर्हत धर्म है।' शय्यम्भव उससे प्रतिबोध को प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् वह ढूँढ़ता हुआ प्रभवस्वामी के पास पहुंचा और उनसे तत्त्व का रहस्य सुनके अपनी गर्भवती पत्नी को छोड़कर २८ वर्ष की अवस्था में उनके पास दीक्षित हो गया।

इधर उनकी पत्नी ने पुत्र को जन्म दिया और उसका नाम 'मनक' रखा। अब वह आठ वर्ष का हो गया, तब उसने एक दिन अपनी मां से पिता के विषय में पूछा। मां ने कहा—तेरे पिता तेरे गर्भस्थ काल में ही मुनि बन गये। वे आचार्य पद पर आसीन हैं और आजकल चम्पानगरी में विहार कर रहे हैं। मनक मां की अनुमति लेकर जब चम्पा पहुंचा, तब आचार्य शय्यम्भव शौच से निवृत्त होकर लौट रहे थे। अतः मार्ग में ही उनकी मनक से भेंट हो गई। उसे देखकर उनके मन में कुछ स्नेह जगा और उसने पूछा 'तू किसका पुत्र है?' मनक ने कहा—'मैं शय्यम्भव ब्राह्मण का पुत्र हूं। आचार्य ने पूछा– अब तेरे पिता कहां हैं ? मनक ने उत्तर दिया वे अब आचार्य हैं और चम्पा में विचर रहे हैं। आचार्य ने पूछा—तू यहां क्यों आया ? मनक ने कहा मैं भी उनके पास दीक्षा लूँगा। यह कहकर उसने पूछा– क्या आप मेरे पिता को जानते हैं ? आचार्य ने कहा—वत्स, मैं उन्हें केवल जानता ही नहीं हूं, अपितु ये मेरे अभिन्न मित्र हैं। तू मेरे ही पास दीक्षा ले ले। मनक ने उनकी बात स्वीकार की और अपने स्थान पर आकर दीक्षा दे दी। यह भी संभव है कि उन्होंने पिता-पुत्र का सम्बन्ध बताकर संघ में उसे गुप्त रखने को कह दिया हो। आचार्य ने निमित्तशास्त्र से जाना कि यह अल्पायु है, केवल छह मास का जीवन शेष है। अतः उसे प्रबोध देने और अल्प समय में साधु के आचार का ज्ञान कराने के लिए द्वादशांग गणिपिटक से साधु-सम्बन्धी सभी विधि-निषेधात्मक तत्त्वों का निर्यूहण (उद्धार) कर और उसे श्लोक-बद्ध करके मनक को पढ़ाया। यतः

इसका प्रारम्भ अपराह्णकाल में हुआ और समापन भी अपराह्णकाल में हुआ. अतः इसका नाम वैकालिक पड़ा और इसके दश अध्ययन रचे गये, अतएव यह दशवैकालिक के रूप से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ ।

आ० शय्यम्भव का समय और सूत्र-संकलन काल

भगवान महावीर के मुक्ति-गमन के पश्चात् सुधर्मास्वामी २० वर्ष तक पट्टधर रहे उनके पट्टधर जम्बूस्वामी हुए । उनका काल ४४ वर्ष रहा । उनके पट्ट पर प्रभवस्वामी आसीन हुए । उनका आचार्य काल ११ वर्ष का है । यह हम पहले बतला आये हैं कि उन्हें अपने उत्तराधिकारी के विषय में चिन्ता हुई और फलस्वरूप शय्यम्भव का सुयोग उन्हें प्राप्त हुआ ।

प्रभवस्वामी का आचार्यकाल ११ वर्ष का है और शय्यम्भव के मुनिजीवन का समय भी ११ वर्ष का हैं । वे २८ वर्ष तक गृहस्थ-जीवन में रहे और २३ वर्ष आचार्य के पद पर रहे । इस प्रकार (२८+११+२३=६२) बासठ वर्ष की आयु भोगकर वे वीर नि० सं० ९८ में स्वर्गवासी हुए ।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रभवस्वामी के आचार्य होने के कुछ समय बाद ही शय्यम्भव मुनि बन गये थे, क्योंकि प्रभवस्वामी का आचार्य-काल और शय्यम्भव का मुनि-काल ११-११ वर्ष का समान है । वीर निर्वाण के ३६वें वर्ष में शय्यम्भव का जन्म हुआ और वीर निर्वाण के ६४वें वर्ष तक वे घर में रहे । मुनि बनने के आठ या साढ़े आठ वर्ष के पश्चात् मनक के लिए दशवैकालिक रचा गया । इस प्रकार दशवैकालिक का सकलन-काल वीर नि० सं० ७२ के लगभग सिद्ध होता है ।

शवैकालिक का वर्ण्यविषय

भगवान महावीर अपने पास दीक्षा लेने वाले साधुओं को जो प्रारम्भिक उपदेश देते थे वहीं उपदेश आचार्य शय्यम्भव ने बड़े सुन्दर ढंग से इस सूत्र में गुम्फित किया है । संक्षेप में कहा जाय तो इसमें साधुओं के आहार-विहार, बोल-चाल, रहन-सहन एवं संयम-परिपालन का वर्णन हैं ।

अंतिम दो चूलिकाओं का गंभीरता से मनन करने पर ऐसा ज्ञात होता है कि उसकी रचना मनक के स्वर्गवास के पश्चात् अन्य साधुओं के हितार्थ हुई है ।

परवर्ती काल में रचित आचार-विषयक ग्रन्थों में इसका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है ।

१ **दुमपुप्फिया**—इस अध्ययन में धर्म को उत्कृष्ट मंगल बताते हुए उसका स्वरूप तथा उसकी आराधना करने वाले श्रमण की भिक्षा-विधि का सूचन किया गया है।

२ **सामण्णपुव्वय**—श्रमणधर्म में स्थिर रहने का उपदेश बड़ी ही रोचक शैली में दिया गया है।

३ **खुड्डियायार कहा**—इसमें साधु के योग्य सामान्य आचार तथा अनाचार का संक्षेप में वर्णन करते हुए अनाचार से दूर रहने का उपदेश है।

४ **छज्जीवणिया**—इसमें षट्काया का स्वरूप बताकर पांच महाव्रतों का वर्णन करते हुए मोक्षगति का क्रम बताया गया है।

५ **पिण्डेसणा**—इस अध्ययन में साधु की भिक्षाविधि का बड़ा ही सूक्ष्म एवं उपयोगी विवेचन है।

६ **महायारकहा** इसमें साधु के आचार का विस्तृत वर्णन किया गया।

७ **वक्कसुद्धि**—इसमें भाषा का स्वरूप बताकर उसके गुण-दोषों का विस्तृत विवेचन कर शुद्ध भाषा के प्रयोग की शिक्षा दी गई है।

८ **आयारपणिही**—आचार को उत्तम निधि बताते हुए उसकी रक्षा करने की विशेष शिक्षा इस अध्ययन में है।

९ **विणयसमाही**—विनय ही धर्म का मूल है, इस सिद्धान्त को विविध रूपकों व उपदेशों द्वारा समझाकर विनय का अत्यन्त सुन्दर विवेचन इस अध्ययन में है।

१० **स-भिक्खू** भिक्षु कौन होता है, उसमें क्या योग्यता तथा विशेषता होनी चाहिए, इसका वर्णन प्रस्तुत अध्ययन में है।

० **रइवक्का पढम चूलिया** संयम में रति (प्रीति) उत्पन्न कराने वाले वाक्यों द्वारा हितशिक्षा का मधुर संचय इस अध्ययन में किया गया है।

० **विवित्तचरिया चूलिका**—दोषों से दूर रहता हुआ श्रमण आत्मगवेषणा के मार्ग में कैसे बढ़े—इसका वर्णन प्रस्तुत चूलिका में है।

इस प्रकार यह दशवैकालिक की संक्षिप्त विषय-सूची है। विस्तृत विवरण पाठक आगे पढ़ेंगे ही।

□

अनुक्रमणिका

महावीर निर्वाण शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में

भ० महावीर द्वारा प्ररूपित कर्म सिद्धान्त

का विस्तृत सर्वांग विवेचन करने वाला

कर्मग्रन्थ भाग १ से ६

मूल, गाथार्थ, विशेष व्याख्या एवं महत्वपूर्ण टिप्पण एवं परिशिष्ट के साथ शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है।

सम्पूर्ण छह भाग का मूल्य ६०)

प्रकाशक ...

श्री मरुधर केशरी साहित्य प्रकाशन समिति, ब्यावर

श्री दशवैकालिक सूत्र

(संस्कृत-छाया, हिन्दी पद्य व गद्य अनुवाद सहित)

पढमं दुमपुप्फिया अज्झयणं

(१)

मूल— **धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।**
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥

संस्कृत— धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टं अहिंसा संयमस्तपः ।
देवा अपि तं नमस्यन्ति यस्य धर्मे सदा मनः ॥

(२)

मूल— **जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रसं ।**
न य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं ॥

संस्कृत— यथा द्रुमस्य पुष्पेषु भ्रमर आपिबति रसम् ।
न च पुष्पं क्लामयति स च प्रीणयत्यात्मकम् ॥

(३)

मूल— **एमेए समणा मुत्ता जे लोए संति साहुणो ।**
विहंगमा इव पुप्फेसु दाणभत्तेसणे रया ॥

संस्कृत— एवमेते श्रमणा मुक्ता, ये लोके सन्ति साधवः ।
विहंगमा इव पुष्पेषु, दानभक्तैषणे रताः ॥

प्रथम द्रुमपुष्पिका अध्ययन

(१)

दोहा — उत्तम मगल धरम है, संयम तप रु दयाहि ।
जाको मन नित धरम में, देवहु वंदत ताहि ॥

अर्थ—अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म उत्कृष्ट मंगल है। जिनका मन सदा धर्म में संलग्न रहता है उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

(२)

दोहा— जैसे तरु के कुसुम में, मधुप पियें रस आय ।
सो पोखत हैं आपकों, सुमर्नाहं नांहि सताय ॥

अर्थ—जैसे भ्रमर वृक्ष के पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस पीता है, किन्तु किसी पुष्प ·। म्लान नहीं करता है और अपने को भी तृप्त कर लेता है।

(३)

दोहा — ये साधू जन जगत में, अहैं श्रमन गत-संग ।
दान भात सोधर्नाहरत, ज्यों सुमननि में भृंग ॥

अर्थ—उसीप्रकार लोक में जो संग-मुक्त श्रमण साधु हैं, वे दाता के द्वारा दिये जाने वाले निर्दोष आहार के अन्वेषण में रत रहते हैं जैसे भ्रमर पुष्पों में।

(४)

मूल— **वयं च वित्ति लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ ।**
अहागडेसु रीयंति, पुप्फेसु भमरा जहा ॥

संस्कृत— वयं च वृत्तिं लप्स्यामहे न च कोऽप्युपहन्यते ।
यथाकृतेषु रीयन्ते पुष्पेषु भ्रमरा यथा ॥

(५)

मूल— **महुगारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया ।**
नाणापिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो ॥ —त्तिबेमि

संस्कृत— मधुकरसमा बुद्धा ये भवन्त्यनिश्रिताः ।
नानापिण्डरता दान्तास्तेनोच्यन्ते साधवः ॥
—इति ब्रवीमि ।



(४)

दोहा— हम लहिहैं या रहनिकों, ज्यों नहिं कोउ दुखाहि ।
जथा किये में विचरिहैं, जिमि अलि फूलनि माहि ॥

अर्थ—हम इस प्रकार से वृत्ति (भिक्षा) प्राप्त करेंगे कि किसी जीव का उपघात न हो। श्रमण यथाकृत—सहजरूप से बना—आहार लेते हैं जैसे भौंरे फूलों से रस।

(५)

दोहा— ज्ञानवन्त प्रतिबंध बिनु, जे मधुकर-सम होंहि ।
दमी अनेकन पिंड-रत, साधु कहत तिनकोंहि ॥

अर्थ—जो ज्ञानी पुरुष मधुकर के समान अनिश्रित है—किसी एक पर आश्रित नहीं है, नाना घरों के पिंड में रत है और इन्द्रिय-जयी है, वे अपने इन्हीं गुणों से साधु कहलाते हैं, ऐसा मैं कहता हूँ।



बीयं सामण्णपुव्वयं अज्झयणं

(१)

मूल— कहं न कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए ।
पए पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसंगओ ॥

संस्कृत— कथं नु कुर्याच्छ्रामण्यं यः कामान्न निवारयेत् ।
पदे पदे विषीदन् सङ्कल्पस्य वशंगतः ॥

(२)

मूल— वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य ।
अच्छन्दा जे न भुंजन्ति, न से चाइत्ति वुच्चइ ॥

संस्कृत— वस्त्रं गन्धमलङ्कारं, स्त्रियः शयनानि च ।
अच्छन्दा ये न भुञ्जन्ति, न ते त्यागिन इत्युच्यते ॥

(३)

मूल— जे य कन्ते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठिकुव्वई ।
साहीणे चयइ भोए से, हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥

संस्कृत— यश्च कान्तान् प्रियान् भोगान्, लब्धान् विपृष्ठीकरोति ।
स्वाधीनस्त्यजति भोगान्, स एव त्यागीत्युच्यते ॥

(४)

मूल— समाए पेहाए परिव्वयंतो, सिया मणो णिस्सरई बहिद्धा ।
न सा महं नो वि अहं पि तीसे, इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥

संस्कृत— समया प्रेक्षया परिव्रजतः, स्यान्मनो निःसरित बहिस्तात् ।
न सा मम नाप्यहमपि तस्या, इत्येवं तस्या व्यपनयेद् रागम् ॥

द्वितीय श्रामण्यपूर्वक अध्ययन

(१)

दोहा—कौन रीति संजम सजै ? कामहिं तजै न जोय ।
इच्छा के आधीन तो, पग-पग पीड़ित होय ।।

अर्थ—जो मनुष्य संकल्प के वश हो, पद-पद पर विषाद-ग्रस्त होता हो, और काम-विषयानुराग का निवारण नहीं करता, वह श्रमणत्व का पालन कैसे करेगा ?

(२)

दोहा—वसन गंध भूसन, सयन, रमनी गन चित चाहि ।
विनु अधीन भोगत न जो, त्यागी कहत न ताहि ।।

अर्थ—जो वस्त्र, गन्ध, अलंकार स्त्रियों और पलंगों का परवश होने से (या उनके अभाव में) सेवन नहीं करता, वह त्यागी नहीं कहा जाता ।

(३)

दोहा—सुन्दर प्यारे भोग लहि, देत पीठ जन जोय ।
निज अधीन भोजन तजै, त्यागी कहियत सोय ।।

अर्थ—जो कान्त और प्रिय भोग उपलब्ध होने पर भी उनकी ओर पीठ करता है और स्वाधीनता-पूर्वक भोगों का त्याग करता है, वह त्यागी कहा जाता है ।

(४)

दोहा—मुनि विचरत सम दीठि सों, जो मन बाहिर जाय ।
वह न मोरि वा को न मैं, यों तिय राग हटाय ।।

अर्थ—समदृष्टि-पूर्वक विचरते हुए भी यदि कदाचित् यह मन बाहिर निकल जाय, तो यह विचार करे कि 'यह मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूँ ।' इस प्रकार साधु स्त्री विषयक राग को दूर करे ।

(५)

मूल— **आयावयाही चय सोउमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं ।**
छिन्दाहि दोसं विणिएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए ॥

संस्कृत— आतापय त्यज सौकुमार्यं, कामान् क्राम क्रान्तं खलु दुःखम् ।
छिन्धि दोषं व्यपनय रागं, एवं सुखी भविष्यति सम्पराये ॥

(६)

मूल— **पक्खन्दे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं ।**
नेच्छंति वन्तयं भोत्तुं, कुले जाया अगन्धणे ॥

संस्कृत— प्रस्कन्दन्ति ज्वलितं ज्योतिषं, धूमकेतुं दुरासदम् ।
नेच्छन्ति वान्तकं भोक्तुं, कुले जाता अगन्धने ॥

(७)

मूल— **धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीवियकारणा ।**
वन्तं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥

संस्कृत — धिगस्तु तेऽयशःकामिन्, यस्त्वं जीवितकारणात् ।
वान्तमिच्छस्यापातुं, श्रेयस्ते मरणं भवेत् ॥

(८)

मूल— **अहं च भोयरायस्स, तं चऽसि अन्धगवण्हिणो ।**
मा कुले गन्धणा होमो, संजमं निहुओ चर ॥

संस्कृत— अहं च भोजराजस्य त्वं चास्यन्धकवृष्णेः ।
मा कुले गन्धनौ भूव संयमं निभृतश्चर ॥

(९)

मूल— **जइ तं काहिसि भावं जा जा दच्छसि नारिओ ।**
वायाविद्धोव्व हडो, अट्ठियप्पा भविस्ससि ॥

संस्कृत— यदि त्वं करिष्यसि भावं या या द्रक्ष्यसि नारीः ।
वाताविद्ध इव हडोऽस्थिरात्मा भविष्यसि ॥

(५)

दोहा—आतप सहि तजि मृदुलता, जीति काम दुख जीति।
द्वेष छेदि तजि राग कों, जगि सुख लहुं या रीति॥

अर्थ—अपने को तपा, सुकुमारता का त्याग कर। काम-वासना का अतिक्रम कर, इससे दुःख स्वयं दूर होगा। (संयम के प्रति) द्वेषभाव को छेद और (विषयों के प्रति) राग भाव को दूर कर। ऐसा करने से तू संसार में सुखी रहेगा।

(६)

दोहा—जोति जलति दुसहा अगनि, तामें परि जरि जांहि।
जाति-अगंधन-जात अहि, गहत वमित विस नांहि॥

अर्थ—अगंधन कुल में उत्पन्न सर्प जलती हुई विकराल अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं, परन्तु वमन किये हुए विष को वापिस पीने की इच्छा नहीं करते।

(७)

दोहा—अजसकामि! धिक्कार तुहिं, जीवन कारन जोइ।
पियो चहत है वमित कों, मरन भलो है तोइ॥

अर्थ—हे अयशःकामिन्! धिक्कार है तुझे, जो तू भोगी जीवन के लिए वमन की हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है? इससे तो तेरा मरना ही भला है।

(८)

दोहा—उग्रसेन-धी मैं, तु हूँ समुदविजय को लाल।
गंधन-कुल जनि होंहि हम, थिर संजम-पथ चाल॥

अर्थ—मैं भोजराज (उग्रसेन) की पुत्री हूं और तू अन्धकवृष्णि (समुद्रविजय) का पुत्र है। हम कुल में गन्धन सर्प के समान न हों। तू निभृत—स्थिर मन—हो संयम का पालन कर।

(९)

दोहा—जो जो नारि निहारि है, जो तू करि है चाह।
अथिर आतमा होयगो, जिमि हड पवन-प्रवाह॥

अर्थ—यदि तू स्त्रियों को देखकर उनके प्रति इस प्रकार राग-भाव करेगा, तो वायु से प्रेरित हड वृक्ष के समान अस्थिरात्मा हो जायेगा।

(१०)

मूल— **तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाए सुभासियं ।**
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ॥

संस्कृत— तस्याः स वचनं श्रुत्वा, संयतायाः सुभाषितम् ।
अङ्कुशेन यथा नागो, धर्मे सम्प्रतिपादितः ॥

(११)

मूल— **एवं करेन्ति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा ।**
विणियट्टंति भोगेसु, जहा से पुरिसोत्तमो ॥—त्ति बेमि

संस्कृत— एवं कुर्वन्ति सम्बुद्धाः पण्डिताः प्रविचक्षणाः ।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यो यथा स पुरुषोत्तमः ॥
—इति ब्रवीमि



(१०)

सोरठा—सो सुनि नीके बोल, वा संजमिनी के कहे ।
भौ निज धरम अडोल, जिमि गज अंकुस के लगे ॥

अर्थ—संयमिनी राजुल के इन सुभाषित वचनों को सुनकर रथनेमि धर्म में वैसे ही स्थिर हो गया, जैसे अंकुश से हाथी शान्त हो जाता है ।

(११)

दोहा— ज्ञानवंत या विधि करत, बुध जु विचच्छन होय ।
विलग होय भव-भोग सों, जा विधि नर-वर सोय ॥

अर्थ—संबुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण पुरुष ऐसा ही करते हैं । वे भोगों से वैसे ही विनिवृत्त हो जाते हैं जैसे कि पुरुषोत्तम रथनेमि हुए । मैं ऐसा कहता हूँ ।



तइयं खुड्डयायारकहा अज्झयणं

(१)

मूल— संजमे सुट्ठिअप्पाणं, विप्पमुक्काण ताइणं ।
तेसिमेयमणाइण्णं, णिग्गंथाण महेसिणं ।।

संस्कृत— संयमे सुस्थितात्मानां विप्रमुक्तानां त्रायिणाम् ।
तेषामेतदनाचीर्णं निर्ग्रन्थानां महर्षिणाम् ।।

(२—३)

मूल— उद्देसियं कीयगडं, नियागमभिहडाणि य ।
राइभत्ते सिणाणे य, गंधमल्ले य बीयणे ।।
सन्निही गिहिमत्ते य, रायपिंडे किमिच्छए ।
संबाहणा दंतपहोयणा य, संपुच्छणा देहपलोयणा य ।।

संस्कृत— औद्देशिकं क्रीतकृतं नित्याग्रमभिहृतानि च ।
रात्रिभक्तं स्नानं च, गन्धमाल्ये च बीजनम् ।।
सन्निधिर्गृह्यमत्रं च, राजपिण्डः किमिच्छकः ।
सम्बाधनं दन्तप्रधावनं च, संप्रच्छनं देहप्रलोकनं च ।।

तृतीय क्षुल्लकाचारकथा अध्ययन

(१)

दोहा—संजम-थित बंधन रहित, जिय-रच्छक रिसिराज ।
तिनि निरग्रंथनि के इते, नहिं करिवे के काज ।।

अर्थ जो संयम में भली भाँति से स्थित है, सर्व, संग से विमुक्त हैं और जीवों के रक्षक हैं, ऐसे निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए ये आगे कहे जानेवाले कार्य अनाचीर्ण अर्थात् अग्राह्य, असेव्य और अकरणीय हैं।

(२—३)

कवित्त—

मुनि के निमित्त कियो, दान देके जाहि लयो, न्योति दियो आनि दियो
राति को आहार है।
न्हायवो सुगंध सेवो, फूलनि की माल लेवौ, बिजन चलाय लेवो वायु को विहार है।
संग्रह को करिवो, गृही के पात्र माहिं वो, खैराजपिंड, दानशाला हू को दान टार है।
मर्दन करानो दंत मंजन कुसलप्रश्न, दर्पन को देखिवो ये दोष परिहार हैं।।

अर्थ—**औद्देशिक**[1]—साधु के निमित्त बनाया गया, **क्रीतकृत**[2]—साधु के लिए खरीदा गया, **नित्याग्र**[3]— निमंत्रित कर नित्य दिया जाने वाला आहार, **अभिहृत**[4]—दूर से सम्मुख लाया गया, **रात्रिभक्त**[5]—रात्रिभोजन, **स्नान**[6]— नहाना, **गन्ध**[7]— सुगन्धित द्रव्य सूंघना या विलेपन करना, **माल्य**[8]—माला पहिरना, **वीजन**[9]—पंखा से हवा करना। **सन्निधि**[10]—खाने की वस्तु का संग्रह करना— रात वासी रखना, **गृहि-अमत्र**[11]—गृहस्थ के पात्र में खाना, **राजपिंड**[12] राजा के घर से भिक्षा लेना, **किमिच्छक**[13]—क्या चाहते हो, यह पूछ कर दिया जानेवाला भोजनादि लेना। **संबाधन**[14] शरीर-मर्दन, **दन्त-प्रधावन**[15]—दांत धोना, **सप्रच्छन**[16] गृहस्थ की कुशल पूछना अथवा **संप्रोछन** शरीर के अंगों को पोंछना, **देहप्रलोकन**[17]—दर्पण आदि में शरीर को देखना।

(४—५—६)

मूल— अट्ठावए य नाली य, छत्तस्स धारणट्ठाए ।
तेगिच्छं पाणहा पाए, समारंभं च जोइणो ॥
गिहिणो वेयावडियं जा य आजीव वित्तिया ।
तत्ता निव्वुडभोइत्तं, आउरस्सरणाणि य ॥
सेज्जायरपिंडं च, आसंदी पलियंकए ।
गिहंतर निसेज्जा य, गायस्सुव्वट्ठणाणि य ॥

संस्कृत— अष्टापदश्च नालिका छत्रस्य धारणमनर्थाय ।
चैकित्स्यमुपानहौ पादयोः, समारम्भश्च ज्योतिषः ॥
शय्यातरपिण्डश्च, आसन्दी पर्यङ्कः ।
गृहान्तर निषद्या च गात्रस्योद्वर्तनानि च ॥
गृहिणो वैयावृत्यं, या च आजीववृत्तिता ।
तप्तानिवृतभोजित्वं, आतुरस्मरणानि च ॥

(७)

मूल— मूलए सिंगवेरे य, उच्छुखंडे अनिव्वुडे ।
कंदे मले य सच्चित्ते, फले बीए य आमए ॥

संस्कृत — मूलकं शृङ्गवेरं च, इक्षुखण्डमनिवृतम् ।
कन्दो मूलं च सचित्तं, फलं बीजं चामकम् ॥

(८)

मूल -- सोवच्चले सिंधवे लोणे, रोमालोणे य आमए ।
सामुद्दे पंसुखारे य, कालालोणे य आमए ॥

संस्कृत— सौवर्चलं सैन्धवं लवणं रूमालवणं चामकम् ।
सामुद्रं पांशुक्षारश्च काललवणं चामकम् ॥

(४—५—६)

कवित्त—

जुआ खेल, नाली-जुआ, छत्र को धरन सीस, वैदगी को करिवो रु पान ही पहरिवो ।
आगि को आरंभ, थान-दानी को अहार लैनो, पीढो खाट बैठिवो, घरनि में ठहरिवो ॥
अंग को उबटनो, गृही की सेवा करिवो, स्वजाति को प्रकाश करिके जु पेट भरिवो ।
सचित्त मिश्रित भोग, आतुर ह्वै पूरव के भोगनि सुमरिवो ये दोस परिहरिवो ॥

अर्थ—**अष्टापद**[१८]—जुआ-शतरंज खेलना, **नालिका**[१९]—नाली से पासा डालकर जुआ खेलना, **छत्र**[२०]—छतरी धारण करना, **चैकित्स्य**[२१]—रोग की चिकित्सा (इलाज) करना, **उपानत**[२२]—पैरों में जूता पहिरना, **ज्योतिःसमारम्भ**[२३] अग्नि जलाना, **शय्यातरपिण्ड**[२४]—स्थान देने वाले के घर से भिक्षा लेना, **आसन्दीपर्यङ्क**[२५] कुर्सी-पलंग आदि पर बैठना, **गृहान्तरशय्या**[२६]—भिक्षा लेते समय गृहस्थ के घर बैठना, **गात्र-उद्वर्तन**[२७]—शरीर का उबटन करना। **गृहि-वैयावृत्य**[२८]—गृहस्थ की वैयावृत्य करना, **आजीव वृत्तिता**[२९]—जाति कुल आदि बताकर भिक्षा प्राप्त करना. **तप्तानिर्वृतभोजित्व**[30]—अधपकी और सचित्त मिश्रित वस्तु को खाना, **आतुर-स्मरण**[३१]—बीमारी आदि आतुरदशा में पूर्व-भुक्त भोगों का स्मरण करना ।

(७)

दोहा मूला आदा जीव-जुत, सेलरि के जे खंड ।
कंदमूल फल बीज ए, तजै सचित सब पिंड ॥

अर्थ—**अनिर्वृत मूलक**[३२]—सजीव मूली लेना या खाना, **अनिर्वृत भृङ्गबेर**[33]—सजीव अदरक लेना व खाना, **अनिर्वृत इक्षुखण्ड**[३४]—सजीव इच्छुखण्ड लेना व खाना द[३५]—सजीव कन्द लेना व खाना, **सचित्तमूल**[३६]—सजीव मूल लेना व खाना, मक फल[३७]—अपक्व फल लेना व खाना, **आमकबीज**[३८]—अपक्व बीज लेना खाना ।

(८)

कवित्त— साजी सिन्धु लोन, रोमा खार औ समुद्र-खार ।
ऊसर लवन काला लवन सचित्त है ॥

अर्थ—आमक **सौवर्चल**[३९]—अपक्व सज्जी खार लेना व खाना, **आमक सैन्धव**[४०]—अपक्व सेंधा नमक लेना व खाना, **आमक रुमालवण**[४१]—अपक्व रोमा खार लेना व खाना, **आमक सामुद्र**[४२]—अपक्व समुद्री नमक लेना व खाना, **आमक पांशुक्षार**[४३]—अपक्व ऊसर भूमि-जनित नमक का लेना व खाना, **आमक काल लवण**[४४]—अपक्व काला नमक लेना और खाना ।

(९)

मूल— **धूव-णेत्ति वमणे य, वत्थीकम्म विरेयणे ।**
अंजणे दंतवणे य, गायब्भंग विभूसणे ॥

संस्कृत— धूमनेत्रं वमनं च वस्तिकर्म विरेचनम् ।
अञ्जनं दन्तवणं च गात्राभ्यंगविभूषणे: ॥

(१०)

मूल— **सव्वमेयमणाइण्णं णिग्गंथाण महेसिणं ।**
संजमम्मि य जुत्ताणं लहुभूयविहारिणं ॥

संस्कृत— सर्वमेतदनाचीर्णं निर्ग्रन्थानां महर्षीणाम् ।
संयमे च युक्तानां लघुभूतविहारिणाम् ॥

(११)

मूल— **पंचासवपरिन्नाया, तिगुत्ता छसु संजया ।**
पंच णिग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥

संस्कृत— पञ्चास्रवपरिज्ञातास्त्रिगुप्ताः षट्सु संयताः ।
पञ्चनिग्रहणा धीराः निर्ग्रन्था ऋजुदर्शिनः ॥

(१२)

मूल— **आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा ।**
वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया ॥

संस्कृत— आतापयन्ति ग्रीष्मेषु हेमन्तेष्वप्रावृताः ।
वर्षासु प्रतिसंलीनाः संयता सुसमाहिताः ॥

(१३)

मूल— **परीसहरिऊदंता, धुयमोहा जिइंदिया ।**
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥

संस्कृत— परीषहरिपुदान्ता धुतमोहा जितेन्द्रियाः ।
सर्वदुःखप्रहाणार्थं प्रक्रामन्ति महर्षयः ॥

(९—१०)

कवित्त—

धूप न वमन औ वसतिक्रिया विरेचन अंजन दंतवन ए दोष वरजित है ।
देह को सिंगारिवो, व अलंकृत कारिवो ए दोष सब टारिवो मुनीनिकों उचित है ।
निर्ग्रन्थ महर्षि तप संजम में लगि रहे, लघुभूत ह्वै के जे विहार करें नित है ।
धन्य हैं महर्षि वे धन्य है आचरण तिन, पाप-टारि जो सदा ही धर्म-रत हैं ॥

अर्थ—**धूमनेत्र**[४४]—धूम्रपान की नलिका रखना अथवा धूप देना, **वमन**[४६]—रोग को दूर करने के लिए वमन करना, **वस्तिकर्म**[४७]—रोग की संभावना से बचने के लिए एवं उदरशोधन के लिए गुदाद्वार से तेल आदि चढ़ाना, **विरेचन**[४८]—जुलाब लेना, **अंजन**[४९]—आँखों में अंजन लगाना, **दन्तवण**[५०]—दातुन करना, **गात्र-अभ्यंग**[५१]—तैल-मर्दन करना, **विभूषण**[५१]—शरीर को अलंकृत करना। ये सब कार्य संयम में लीन एवं वायु के समान लाघवयुक्त होकर उन्मुक्त विहार करने वाले निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए अनाचीर्ण हैं, अर्थात् करने योग्य नहीं हैं ।

(११—१२)

कवित्त—

हिंसा झूठ चोरी और कुसील परिग्रह ऐसे पंच आस्रवनि को जिननि जानि लीने हैं ।
मन वच काय ऐसी तीन हूँ गुपति गहैं, छहकाय हिंसा टारें संजम प्रवीने हैं ।
पंच इन्द्री दमन करन है धरन धीर, निर्ग्रन्थ सरल दीठ मोख पंथ चीने हैं ।
ग्रीसम आताप सहें सीत में उघारें रहैं, वर्षा में संवर गहैं साधु ध्यान कीने हैं ॥

अर्थ—हिंसादि पाँच पापों को जानकर उनका परित्याग करने वाले, तीन गुप्तियों से गुप्त, छह काय जीवों के प्रति संयत, पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करने वाले [illegible]र वीर निर्ग्रन्थ साधु ऋजुदर्शी अर्थात् सब पर समान दृष्टि रखने वाला मोक्षमार्ग-[illegible]ी होते हैं ।

(गाथा १२ का पद्य भाग पूर्व कवित्त के चतुर्थ चरण में समाविष्ट है ।)

अर्थ—सुसमाहित निर्ग्रन्थ ग्रीष्म काल में सूर्य की आतापना लेते हैं, हेमन्त-शीतकाल में खुले वदन रहते हैं और वर्षाकाल में प्रतिसंलीन अर्थात् एक स्थान पर या एकान्त में रहते हैं ।

(१३)

दोहा—परिसह-अरि दमि मोह तजि, इंद्रिनि करी अधीन ।
करत पराक्रम रिसि महा, होन सकल दुख-हीन ॥

अर्थ—परीषहरूपी शत्रुओं का दमन करनेवाले, मोह-रहित जितेन्द्रिय महर्षि सर्व दुःखों के नाश के लिए पराक्रम करते हैं ।

(१४)

मूल— **दुक्कराइं करेत्ताणं, दुस्सहाइं सहेत्तु य ।**
केइत्थ देवलोएसु, केई सिज्झन्ति नीरया ॥

संस्कृत- दुष्कराणि कृत्वा दुःसहानि सहित्वा च ।
केचिदत्र देवलोकेषु, केचित् सिध्यन्ति नीरजसः ॥

(१५)

मूल— **खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य ।**
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, ताइणो परिनिव्वुडा ॥—त्ति बेमि

संस्कृत— क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि संयमेन तपसा च ।
सिद्धिमार्गमनुप्राप्तास्त्रायिणः परिनिर्वृताः ॥
—इति ब्रवीमि

□

(१४)

दोहा – दुसकर करि, दु:सहनि सहि, कइक जात सुर लोग।
किते करम-रज रहित हुइ लहत सिद्धि संयोग॥

अर्थ—दुष्कर तपों को करते हुए, दु:सह उपसर्गों और परीषहों को सहते हुए उन निर्ग्रन्थों में से कितने ही तो आयु पूर्ण कर देवलोक जाते हैं और कितने ही निर्ग्रन्थ नीरज – कर्मरज-रहित हो सिद्ध होते हैं।

(१५)

दोहा संजम सों तपसों तथा पूर्व करम करि हान।
मुकति-पंथ प्रापत भये रच्छक लह निरवान॥

अर्थ—संयम (संवर) एवं तप के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करके वे त्रायी-रक्षक संयमी मुक्ति मार्ग (मोक्ष) को प्राप्त कर लेते हैं।

□

चउत्थं छज्जीवणिया अज्झयणं

(१)

मूल— सुयं मे आउसं ! तेण भगवया एवमक्खायं—इह खलु छज्जीवणिया णामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती ।

संस्कृत— श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातं—इह खलु षड्जीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ।

(२)

मूल— कयरा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती ।

संस्कृत— कतरा खलु सा षड्जीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता श्रेयोमेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ।

(३)

मूल— इमा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता सेयं मे

चतुर्थ षड्जीवनिका अध्ययन

(१)

चौपाई— **चिरंजीव, मैंने यों सुन्यो, वा भगवतने ऐसो भन्यो ।**
निश्चयतें षट्जीवनिकाय, नामक जो यह हैं अध्याय ॥१॥
महावीर श्रमन जु भगवान्, काश्यपगोत्री ने यह जान ।
भली भाँति सों भाख्यो याहि भली-भाँति परकास्यो ताहि ॥२॥
सो पढ़नो उत्तम है मोय, धरम ज्ञान को पाठ जु सोय ।

अर्थ—हे आयुष्मन्, मैंने सुना है उन भगवान् ने इस प्रकार कहा—निर्ग्रन्थ प्रवचन में निश्चय ही षड्जीविनिका नामक अध्ययन काश्यपगोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है। इस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेयस्कर है।

(२)

चौपाई— **निहचयतें षट् जीवनिकाय, नामक कौन अहे अध्याय ।**
महावीर स्रमन जु भगवान, काश्यपगोत्री ने जो जान ॥१॥
भली भाँति सों भाख्यो जाहि, भली-भाँति परकास्यो आहि ।
सो पढ़नो उत्तम है मोय, धरम ज्ञान को पाठ जु होय ॥२॥

अर्थ—यह षड्जीवनिका नामक अध्ययन कौन-सा है जो काश्यपगोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है, जिस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेयस्कर है ?

(३)

चौपाई— **निहचय तें षट्जीवनिकाय, नामक यह कहियत अध्याय ।**
महावीर स्रमन जु भगवान, काश्यपगोत्री ने जो जान ॥१॥

अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती तं जहा—पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया तस-काइया।

संस्कृत— इमा खलु सा षड्जीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महा-वीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता श्रेयो मेऽध्येतुम-ध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः। तद्यथा—पृथिवीकायिकाः अप्कायिकाः तेजस्कायिकाः वायुकायिकाः वनस्पतिकायिकाः त्रसकायिकाः।

(४)

मूल— **पुढवी चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता, अन्नत्थ सत्थ-परिणएणं।**

संस्कृत— पृथिवी चित्तवती आख्याता अनेक जीवा पृथक्सत्त्वा, अन्यत्र शस्त्रपरिणतायाः।

(५)

मूल— **आऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता, अन्नत्थ सत्थ-परिणएणं।**

संस्कृत— आपश्चित्तवत्यः आख्याता अनेकजीवा पृथक्सत्त्वा, अन्यत्र शस्त्रपरिणताभ्यः।

(६)

मूल— **तेऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता, अन्नत्थ सत्थ-परिएणं।**

संस्कृत— तेजश्चित्तवत् आख्यातमनेकजीवं पृथक्सत्त्वम्, अन्यत्र शस्त्र-परिणतात्।

(७)

मूल— **वाऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता, अन्नत्थ सत्थ-परिणएणं।**

संस्कृत— वायुश्चित्तवान् आख्यातः अनेकजीवः पृथक्सत्त्वः, अन्यत्र शस्त्र-परिणतात्।

भली भाँति से भाख्यो याहि, भली भाँति परकास्यो आहि ।
सो पढ़नो उत्तम है मोय, धरम ज्ञान को पाठ जु सोय ।।२।।
वे हैं ये खट् जीव निकाय, पृथिवी जल अरु तेज जु काय ।
वायु और वनस्पतिकाय, छठा भेद त्रसकाय लहाय ।।३।।

अर्थ—षट्जीवनिका नामक अध्ययन—जो काश्यपगोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है, जिस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेयस्कर है—वे छह जीवनिकाय इस प्रकार हैं—पृथिवीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक ।

(४)

दोहा— शस्त्र-घात को छोड़कर, पृथिवी कही सचित्त ।
रहहिं अनेकों जीव तहं, भिन्न-भिन्न सब सत्त ।।

अर्थ—शस्त्राघात के सिवाय पृथिवी सचेतन कही कई है, उसमें अनेक जीव हैं और सबकी भिन्न-भिन्न सत्ता है ।

(५)

दोहा— शस्त्र-घात को छोड़कर, जलको कहा सचित्त ।
रहहिं अनेकों जीव तहँ, भिन्न-भिन्न सब सत्त ।।

अर्थ—शस्त्राघात के सिवाय जल सचेतन कहा गया गया है, उसमें अनेक जीव हैं और सबकी भिन्न-भिन्न सत्ता है ।

(६)

दोहा— शस्त्र-घात को छोड़कर, कहि है अगनि सचित्त ।
रहहिं अनेकों जीव तहँ, भिन्न-भिन्न सब सत्त ।।

अर्थ—शस्त्राघात के सिवाय अग्नि सचेतन कही गई है, उसमें अनेक जीव हैं और सबकी भिन्न-भिन्न सत्ता है ।

(७)

दोहा— शस्त्र-घात को छोड़कर वायू कही सचित्त ।
रहहिं अनेकों जीव तहं, भिन्न-भिन्न सब सत्त ।।

अर्थ—शस्त्राघात के सिवाय वायु सचेतन कही गई है, उसमें अनेक जीव हैं और सबकी भिन्न-भिन्न सत्ता है ।

(८)

मूल— **वणस्सई चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता, अन्नत्थ सत्थ परिणएण ।**

संस्कृत— वनस्पतिश्चित्तवान् आख्यातः अनेकजीवः पृथक्सत्वः, अन्यत्र शस्त्रपरिणतात् ।

मूल— **तं जहा—अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया बीयरुहा सम्मुच्छिमा तणलया वणस्सइकाइया सबीया चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थ परिणएणं ।**

संस्कृत— तद्यथा—अग्रबीजाः मूलबीजाः पर्वबीजाः स्कन्धबीजाः बीजरुहाः सम्मूर्च्छिमाः तृणलताः वनस्पतिकायिकाः सबीजाः चित्तवन्त आख्याताः अनेकजीवाः पृथक्सत्त्वाः अन्यत्र शस्त्रपरिणतेभ्यः ।

(९)

मूल— **से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा, तं जहा—अंडया पोयया जराउआ रसया संसेइमा सम्मुच्छिमा उब्भिया उववाइया । जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं पडिक्कंतं संकुचियं पसारियं रुयं भंतं तसियं पलाइयं आगइ-गइविन्नाया जेय कीड-पयंगा जा य कुंथु पिपीलिया सव्वे बेइंदिया सव्वे तेइंदिया सव्वे चउरिंदिया सव्वे पंचिंदिया सव्वे तिरिक्ख-जोणिया सव्वे नेरइया सव्वे मणुया, सव्वे देवा सव्वे पाणा परमाहम्मिया एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाओ त्ति पवुच्चई ।**

(८)

दोहा— शस्त्र-घात को छोड़कर, कहे वृक्षादि सचित्त ।
रहहिं अनेकों जीव तहं, भिन्न-भिन्न हैं सत्त ॥

अर्थ—शस्त्राघात के सिवाय वनस्पति सचेतन कही गई है, उसमें अनेक जीव हैं और सबकी भिन्न-भिन्न सत्ता है ।

कवित्त—

अग्रबीज मूलबीज पर्वबीज खंधबीज, बीजरुह और हू सम्मूर्च्छिम आनिये ।
तृण और लता आदि जाति हैं अनेकविध तिन सबहो को सचित्त मानिये ।
कही सब वनस्पति अनेकनि जीवमई, भिन्न-भिन्न सबहो की सत्ता को निहारिये,
शस्त्र-घात भये पाछें सबहिं अचित्त होय, ऐसो जिन-भासी तत्त्व मन में विचारिये ॥

अर्थ—अग्रबीज—कोरंटक आदि—जिनका बीज (उत्पादक अंश) ऊपर के अग्रभाग में हो, **मूलबीज** – उत्पल-कन्द आदि—जिनका बीज मूल (जड़) में हो, **पर्वबीज** – इक्षु आदि, जिनका पर्व (पोर) ही बीज रूप होता है, **स्कन्धबीज**—थूहर आदि, जिनका स्कन्ध ही बीजरूप होता है, **बीजरूह**—गेहूं आदि धान्य के बीज जिनसे अंकुर उत्पन्न होता है, **सम्मूर्च्छिम**—लीलन-फूलन काई आदि जो बिना बीज के ही उत्पन्न हो, **तृण**—सभी जाति की घास, **लता**—पृथ्वी पर फैलने वाली और वृक्षादि पर लिपटने वाली बेलि-वल्लरी आदि । इस प्रकार जिनका मूल, स्कन्ध, पर्व, अग्रभाग और बीज आदि उत्पादक शक्ति से युक्त वनस्पति है, वह सर्व 'सबीज' कहलाती है । ये सभी सबीज वनस्पतियां चित्तमन्त—सचेतन या सचित्त कही गई है । उनमें अनेक जीव रहते हैं और उन सब जीवों की पृथक्-पृथक् सत्ता है ।

(९)

पद्य—

जे पुन त्रस जीव वे हैं अनेक जाति अंडज पोतज जरायुज जानिये,
रसज संस्वेदज सम्मूर्च्छिम उद्भिज औपपातिक भेद ये उनके ही मानिये ।
जो प्राणी सामें जाहिं भीति देखि पीछे हटें संकोचें ता पसारे अंग शब्द को करें हैं,
इत जाहिं उतजाहिं भय देखि दोड़ जाहिं, गति और आगति के ज्ञाता त्रस कहे हैं ॥
ऐसे लट केंचु आदि अनेक बेइन्द्रीजीव, कुंथु-पिपीलिकादि तेइन्द्री जानिये,
भौंरे मक्खी मच्छरादि चउइन्द्रियजीव, नारक मनुज देव पंचेन्द्री मानिये ।
जलचर थलचर नभचर पंचेन्द्री तिर्यंच, सन्नी परमाधामी देव, या जो सुख चाहें हैं,
ऐसे सभी त्रस जीव छठे त्रसकाय-मांहि, इहि भांति जिनेसुर देव ने गाये हैं ॥

संस्कृत— अथ ये पुनरिमे अनेके बहवस्त्रसाः प्राणिनः, तद्यथा—अण्डजाः पोतजाः जरायुजाः रसजाः संस्वेदजाः सम्मूर्च्छिमा उद्भिजाः औपपातिकाः। येषां केषाञ्चित् प्राणिनां अभिक्रान्तं प्रतिक्रान्तं सङ्कुचितं प्रसारितं रुतं भ्रान्तं त्रस्तं पलायितं आगति-गति-विज्ञातारः ये च कीट-पतंगा याश्च कुन्थु-पिपीलिकाः सर्वे द्वीन्द्रियाः सर्वे त्रीन्द्रियाः सर्वे चतुरिन्द्रियाः सर्वे पञ्चेन्द्रियाः सर्वे तिर्यग्योनिकाः सर्वे नैरयिकाः सर्वे मनुजाः सर्वे देवाः सर्वे प्राणाः परमाधार्मिका। एष खलु षष्ठो जीवनिकायस्त्रसकाय इति प्रोच्यते।

(१०)

मूल **इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारभेज्जा, नेवन्नेहिं दंडं समारम्भावेज्जा दंडं समारंभंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा. जावज्जीवाए तिविहिं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।**

संस्कृत— इत्येषां षण्णां जीवनिकायानां नैव स्वयं दण्डं समारभेत, नैवान्यैर्दण्डं समारम्भयेत्, दण्डं समारभमाणानप्यन्यान् न समनुजानीयात् यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि! तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि।

अर्थ और ये बहुविध अनेक त्रस प्राणी हैं, जैसे—**अण्डज**—अंडों से उत्पन्न होने वाले मोर आदि, **पोतज**—जेर आदि आवरण के बिना उत्पन्न होने वाले हाथी आदि, **जरायुज**—जेर से वेष्टित उत्पन्न होने वाले गाय-भैंस आदि, **रसज**—दूध, दही आदि रसों में उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म जन्तु (जर्म्स GERMS), **संस्वेदक**—पसीने से उत्पन्न होने वाले जूं आदि **सम्मूर्च्छिम** बाहिरी इधर-उधर के जल-मिट्टी आदि के संयोग से उत्पन्न होने वाले कीट-- चींटी आदि, **उद्भिक**— पृथ्वी को भेदकर उत्पन्न होने वाले पतंगा आदि पंखवाले प्राणी, **औपपातिज**—उपपात जन्म से उत्पन्न होने वाले देव और नारकी। ये सभी जीव त्रसकाय हैं। अर्थात् जिन किन्हीं प्राणियों में सामने जाना, पीछे हटना, संकुचित होना, फैलना, शब्द करना, इधर-उधर जाना, भय-भीत होना, दौड़ना ये क्रियाएं पाई जाती हैं और जो गति-आगति के ज्ञाता हैं, ऐसे सभी जीव त्रस कहलाते हैं। उनमें लट-केंचुआ आदि द्वीन्द्रिय जीव हैं, चींटी-चींटादि त्रीन्द्रिय जीव हैं, मक्खी-मच्छरादि चतुरिन्द्रिय जीव हैं, पांच इन्द्रियों वाले गाय-भैंस आदि सभी पशु और पक्षी आदि तिर्यग्योनिक, सर्व नारक, सर्व मनुष्य, सर्व देव (परमाधामी आदि असुर और सुर) ये सभी छठे त्रसकायिक जीव कहलाते हैं।

(१०)

दोहा— **इत छह जीव निकाय का, स्वयं करे नहिं घात ।**
नहीं करावें और सों, कभी जीव-संघात ॥१॥
परको करते देखकर, अनुमोदें न कदाप ।
जाव जीव त्रय करण से, छोड़ें हिंसा पाप ॥२॥
मनसे वचसे काय से, करूं न कराउं शूल[1] ।
करने को अनुमोदना, करूं न कबहूं भूल ॥३॥
भूतकाल के दंड से, भगवन ! होउं निवृत्त ।
निंदा गरिहा करहि कं, होऊं त्याग-प्रवृत्त ॥४॥

अर्थ—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय ये पाँच स्थावरकाय तथा द्वीन्द्रियादि त्रसकाय, इन छहों जीव-निकायों का स्वयं दण्ड-समारम्भ नहीं करे, दूसरों से दण्ड-समारम्भ नहीं करावे, और दण्ड-समारम्भ करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करे। यावज्जीवन के लिए इस प्रकार कृत, कारित, अनुमोदना इन तीन करणों से तथा मन, वचन, काय इन तीन योगों से न करूंगा, न कराऊंगा और करने वाले अन्य की अनुमोदना भी नहीं करूंगा। हे भगवन्, मैं भूतकाल में किये जीवघातरूप दंड-समारंभ से निवृत्त होता हूं, उसकी निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं।

---

१ प्राण-पीड़न।

(११)

पढमं अहिंसामहव्वयं

मूल— **पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं सव्वं भंते ! पाणाइवायं पच्चक्खामि—से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा नेव सयं पाणे अइवाएज्जा, नेवन्नेहिं पाणे अइवाया-वेज्जा, पाणे अइवायंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा, जावज्जी-वाए तिविहिं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते पडिक्क-मामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । पढमे भंते, महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं ।**

संस्कृत— प्रथमं भदन्त ! महाव्रते प्राणातिपाताद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! प्राणातिपातं प्रत्याख्यामि—अथ सूक्ष्मं वा बादरं वा त्रसं वा स्थावरं वा नैव स्वयं प्राणानतिपातयामि, नैवान्यैः प्राणानति-पातयामि, प्राणानतिपातयतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि । याव-ज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त, प्रति-क्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि । प्रथमे भदन्त, महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरमणम् ।

(१२)

बिइयं मुसावायवेरमणं महव्वयं

मूल— **अहावरे दोच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं सव्वं भंते ! मुसावायं पच्चक्खामि- से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा नेव सयं मुसं वएज्जा, नेवन्नेहिं मुसं वायावेज्जा, मुसं वयंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि**

(११)

प्रथम अहिंसा महाव्रत

चौपाई— प्रथम महाव्रत में भगवंत, प्राणि-घात से होऊँ विरंत।
भगवन्, तजूं सकल जिय-घात, हों या सूक्ष्म थूल बहु भांत ॥१॥
स्वयं करत नहिं उनका घात, नहीं कराऊं परसे घात।
जो करते हैं पर-अतिपात अनुमोदन न करू जगतात ॥२॥
तीन योग त्रिकरण सम्हार, करूं कभी नहिं जीव-संहार।
नहीं कराऊं प्राण-संहार, अनुमोदूं नहिं पर-संहार ॥३॥

दोहा— भूतकाल के घात से, भगवन् ! होऊं निवृत्त।
निन्दा गरिहा करहिं के, होऊं त्याग-प्रवृत्त ॥

चौपाई— प्रथम महाव्रत में इह भांत, भया उपस्थित हे जग-त्रात।
यह हिंसा परिहार-स्वरूप, प्रथम महाव्रत है व्रत-भूप ॥१॥

अर्थ— भंते, पहिले महाव्रत में प्राणातिपात से विरमण होता है। भगवन्, मैं सर्व प्राणातिपात का प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूँ—सूक्ष्म या बादर (स्थूल), त्रस या बादर, जो भी प्राणी हैं उनके प्राणों का अतिपात (घात) मैं स्वयं नहीं करूंगा, दूसरों से नहीं कराऊंगा और प्राणघात करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा। यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से (मन से, वचन से, काय से) न करूंगा, न कराऊंगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा। भगवन्, मैं भूतकाल में किये जीवघात से निवृत्त होता हूं, उनकी निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं। इस प्रकार हे भगवन्, मैं प्राणातिपात (जीव-घात) के [illegible]न के लिए उपस्थित हुआ हूं।

(१२)

द्वितीय मृषावादविरमण महाव्रत

चौपाई— दुतिय महाव्रत में भगवन्त, मृषावाद से होऊं विरंत।
भगवन् मृषावाद सब तजूं अप्रिय कटुक वचन नहिं कहूं ॥१॥
क्रोध लोभ और भय परिहास, ले इनका निमित्त कछु खास।
बोलूं स्वयं न झूठे वैन, नहीं बुलाऊं कर पर-सैन[1] ॥२॥

---

१ संकेत।

अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते, पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। दोच्चे भंते, महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं।

संस्कृत— अथापरे द्वितीये भदन्त ! महाव्रते मृषावादाद्विरमणम्। सर्वं भदन्त, मृषावादं प्रत्याख्यामि—अथ क्रोधाद्वा लोभाद्वा भयाद्वा हासाद्वा नैव स्वयं मृषा वदामि, नैवान्यैर्मृषा वादयामि मृषा वदतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे, आत्मनं व्युत्सृजामि। द्वितीये भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माद् मृषावादाद्विरमणम्।

(१३)

तइयं अदिन्नदाणवेरमणं महव्वयं

मूल— **अहावरे तच्चे भंते ! महव्वऐ अदिन्नादाणाओ वेरमणं सव्वं भंते अदिन्नादाणं पच्चक्खामि—से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा, चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं अदिन्नं गेण्हेज्जा, नेवन्नेहिं अदिन्नं गेण्हावेज्जा, अदिन्नं गेण्हंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। तच्चे भंते, महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं।**

संस्कृत— अथापरे तृतीये भदन्त ! महाव्रते अदत्तादानाद् विरमणम्। सर्वं भदन्त, अदत्तादानं प्रत्याख्यामि—अथ ग्रामे वा नागरे वा

बोलत मृषा जो कोई होय, करूं न अनुमोदन मैं सोय ।
तीन योग त्रिकरण बसाय, मृषावाद करूं न कराय ।।३।।
अनुमोदन भी कभी न करिहूं, सत्य वचन में भाव जु रखिहूं ।
पूरब दोष जु लागो होय, निन्दा गरिहा कर तजुं सोय ।।४।।
दुतिय महाव्रत में इह भांत, भया उपस्थित हूं जगत्रात ।
मृषावाद-परिहार स्वरूप, दुतिय महाव्रत है ये अनूप ।।५।।

अर्थ—भन्ते ! इसके पश्चात् दूसरे महाव्रत में मृषावाद से विरमण होता है। भगवन्, मैं सर्व मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूं - क्रोध से, या लोभ से, भय से या हंसी से, मैं स्वयं असत्य नहीं बोलूंगा, दूसरों से असत्य नहीं बुलवाऊंगा और असत्य बोलने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा। यावज्जीवन के लिए तीन करण और तीन योग से—मन से, वचन से, काय से मृषावाद न करूंगा, न कराऊंगा और मृषा (असत्य) बोलने वाले का अनुमोदन भी नही करूंगा। भगवन् मैं भूतकाल के मृषावाद से निवृत्त होता हूं, उसकी निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं। भगवन्, इस प्रकार से मैं मृषावाद विरमरण स्वरूप दूसरे महाव्रत में उपस्थित हुआ हूं।

(१३)

तृतीय अदत्तादानविरमण महाव्रत

चौपाई— **तृतीय महाव्रत में भगवन्त, चोरी से मैं होऊं विरंत ।**
विन दी सर्व वस्तुएं तजूं, जिससे चौर्य दोष से बचूं ।।१।।
गिरी पड़ी हों ग्राम-मझार, वन नगरादिक देश-विसार ।
अल्प मूल्य हों या बहुमूल, लघु होवें या होवें थूल ।।२।।
हों सचित्त, या होय अचित्त, स्वयं गहूं नहिं कभी अदत्त ।
कहूं न परसे लेने काज, गिरी पड़ी तुम लेहु समाज ।।३।।
चोरी करता जो भी होय, अनुमोदन भी करूं न सोय ।
जाव जीव यों तीन प्रकार, मन वच काया से परिहार ।।४।।
पूरव दोष जु लाग्यो होय, निन्दा गरिहा करि तजुं सोय ।
तृतिय महाव्रत में इह भांत, भया उपस्थित हूं, जगतात ।।५।।

अर्थ—भन्ते ! इसके पश्चात् तीसरे महाव्रत में अदत्तादान से विरमण होता है। हे भगवन्, मैं सर्व अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूं—गांव में, नगर में या वन में कहीं भी अल्पमूल्य या बहुमूल्य, सूक्ष्म (थोड़ी) या स्थूल (बड़ी) सचित्त या अचित्त, किसी भी प्रकार की अदत्त (बिना दी) वस्तु का मैं स्वयं ग्रहण नहीं करूंगा,

अरण्ये वा स्वल्पं वा बहुं वा अणु वा स्थूलं वा चित्तवद्वा अचित्तवद्वा नैव स्वयमदत्तं गृह्णामि, नैवान्यैरदत्तं ग्राहयामि, अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि। यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि। तृतीये भदन्त महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माददत्तादानाद्विरमणम्।

(१४)

चउत्थं मेहुणविरमणं महव्वयं

मूल— **अहावरे चउत्थे भंते! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं सव्वं भंते, मेहुणं पच्चक्खामि—से दिव्वं वा, माणुसं वा, तिरिक्खजोणियं वा, नेव सयं मेहुणं सेवेज्जा, नेवन्नेहिं मेहुणं सेवावेज्जा, मेहुणं सेवंते वि अन्नं न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजानामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।**

संस्कृत— अथापरे चतुर्थे भदन्त! महाव्रते मैथुनाद् विरमणम्! सर्वं भदन्त, मैथुनं प्रत्याख्यामि—अथ दिव्यं वा, मानुषं वा, तिर्यग्योनिकं वा—नैव स्वयं मैथुनं सेवे, नैवान्यैर्मैथुनं सेवयामि, मैथुनं सेवमानमप्यन्यान्न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त, प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि। चतुर्थे भदन्त, महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माद् मैथुनाद् विरमणम्।

दूसरे से अदत्त वस्तु का ग्रहण नहीं कराऊंगा, और अदत्त वस्तु ग्रहण करने वालों का कभी अनुमोदन भी नहीं करूंगा। यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से —मन से, वचन से, काय से—न चोरी करूंगा, न कराऊंगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा। भगवन् मैं भूतकाल के अदत्तादान से निवृत्त होता हूं, उसकी निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं। हे भगवन्, इस प्रकार से मैं अदत्तादान के त्यागरूप तीसरे महाव्रत में उपस्थित हुआ हूं।

(१४)

चतुर्थ मैथुनविरमण महाव्रत

चौपाई— **चौथे महाव्रत में भगवंत, मैथुन से मैं होऊं विरंत।**
भगवन्, मैथुन तीन प्रकार, उसका मैं करता परिहार ॥१॥

हो वह मानुष या पशु-संग, हो या देव-देवियों संग।
सेऊं मैथुन स्वयं न देव, पर से भी न कराऊं सेव ॥२॥

जो जन मैथुन सेवन करैं, उनको अनुमोदन परिहरैं।
जाव जीव यों तीन प्रकार, मन वच काया से परिहार ॥३॥

करूं न कराऊं मैथुन-सेव, अनुमोदन भी त्यागूं देव।
यों तिय-पुरुष मिथुन के काम, त्यागि बनूं मैं शुद्ध ललाम ॥४॥

पूरव भोग जु भोगे होंय, निंदा गरिहा करि तजुं सोय।
चौथे महाव्रत में इह भांत, भया उपस्थित हे जगतात ॥५॥

अर्थ—भन्ते, इसके पश्चात् चौथे महाव्रत में मैथुन से विरमण होता है। भगवन्, सब प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूं—देव-सम्बन्धी, मनुष्य-सम्बन्धी अथवा तिर्यंच-सम्बन्धी मैथुन का मैं स्वयं सेवन नहीं करूंगा, दूसरों से मैथुन सेवन नहीं कराऊंगा और मैथुन सेवन करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा। यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से—मन, वचन, काय—से न करूंगा, न कराऊंगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा। भन्ते, भूतकाल में किये गये मैथुन-सेवन से निवृत्त होता हूं, उसकी निन्दा करता हूं गर्हा करता हूं और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं। भगवन्, मैं चौथे महाव्रत में सर्व मैथुन-सेवन से विरत होकर उपस्थित होता हूं।

(१५)

पंचमं परिग्गहवेरमणं महव्वयं

मूल— **अहावरे पंचमे भंते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं सव्वं भंते परिग्गहं पच्चक्खामि—से गामे वा नगरे वा रण्णे वा, अप्पं वा, बहुं वा, अणुं वा थूलं वा, चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं परिग्गहं परिगेण्हेज्जा, नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगेण्हावेज्जा, परिग्गहं परिगेण्हंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते, पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि । पंचमे भंते महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ।**

संस्कृत— अथापरे पंचमे भदंत ! महाव्रते परिग्रहाद्विरमणम् । सर्वं भदन्त, परिग्रहं प्रत्याख्यामि— अथ ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वा अल्पं वा बहुं वा, अणुं वा स्थूलं वा, चित्तवन्तं वा अचित्तवन्तं वा, नैव स्वयं परिग्रहं परिगृह्णामि, नैवान्यैः परिग्रहं परिग्राहयामि, परिग्रहं परिगृह्णतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन-मनसा वाचा कायेन न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त, प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि । पञ्चमे भदन्त, महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माद् परिग्रहाद्विरमणम् ।

(१६)

छट्ठो राइ-भोयणावेरमणव्वयं

मूल— **अहावरे छट्ठे भंते ! वए राईभोयणाओ वेरमणं सव्वं भंते, राइभोयणं पच्चक्खामि— से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा नेव सयं राइं भुंजेज्जा. नेवन्नेहिं राइं भुंजावेज्जा राइं भुंजंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं**

(१५)

पंचम परिग्रहविरमण महाव्रत

चौपाई— पंचम महाव्रत में भगवंत, होऊं सब परिगह से विरंत ।
भगवन, परिग्रह विविध प्रकार, सबका मैं करता परिहार ॥१॥
वह हो ग्राम या नगर-मंझार, खेत बाग वन का विस्तार ।
अल्प सूक्ष्म जो आगम-भना, धन-धान्यादिक होवे घना ॥२॥
हो सचित्त या होय अचित्त, दासी-दास गृहादिक वित्त ।
नहीं स्वयं मैं परिग्रह गहूं, नहीं अन्य को प्रेरित करूं ॥३॥
परिग्रह को गहते जन जोय, करूं न अनुमोदन भी सोय ।
जाव जीव यों तीन प्रकार, मन वच काया से परिहार ॥४॥
पूरव दोष जु लाग्यो होय, निंदा गरिहा करि तजूं सोय ।
पंचम महाव्रत में इह भांत, भया उपस्थित हूं जगजात ॥५॥

अर्थ—भन्ते, इसके पश्चात् पांचवें महाव्रत में परिग्रह से विरमण होता है। भगवन् मैं सर्व प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूं—गांव में, नगर में या अरण्य में—कहीं भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त—किसी भी परिग्रह का ग्रहण मैं स्वयं नहीं करूंगा, दूसरों से परिग्रह का ग्रहण नहीं कराऊंगा और परिग्रह को ग्रहण करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा, यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से— मन से, वचन से, काय से—न करूंगा, न कराऊंगा और करने वाले अन्य जनों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा। भगवन्, मैं भूतकाल के परिग्रह से निवृत्त होता हूं, उसकी निन्दा करता हूं और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं। [भग]वन्, मैं पांचवें महाव्रत में सर्व परिग्रह से निवृत्त होकर उपस्थित हुआ हूं।

(१६)

छट्ठा रात्रि-भोजन-विरमण-व्रत

चौपाई— अब भगवन्, छट्ठा व्रत धरूं, रात्रि-भुक्ति को मैं परिहरूं ।
अशन पान खाद्य अरु स्वाद्य, ये मेरे निशि में हैं त्याज्य ॥१॥
नहीं खिलाऊं पर को कभी, रात्रि-अशन से बचिहूं तभी ।
निशि में खाने की मैं भूल, करूं न अनुमोदन अघ-मूल ॥२॥

तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। छट्ठे भंते, वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइभोयणाओ वेरमणं।

संस्कृत— अथापरे षष्ठे भदन्त ! व्रते रात्रिभोजनाद् विरमणम्। सर्वं भदंत, रात्रिभोजनं प्रत्याख्यामि—अथ अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा नैव स्वयं रात्रौ भुञ्जे, नैवान्यान् रात्रौ भोजयामि, रात्रौ भुञ्जानानप्यन्यान् न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन-मनसा वाचा कायेन न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त, प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि। षष्ठे भदन्त, व्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माद् रात्रिभोजनाद्विरमणम्।

(१७)

मूल— **इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राइभोयणवेरमणं छट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए उवसंपज्जित्ता णं विहरामि।**

(१८)

मूल— **से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से पुढविं वा भित्तिं वा सिलं वा लेलुं (लोट्ठं) वा ससरक्खं वा कायं ससरक्खं वा वत्थं हत्थेण वा पाएण वा कट्ठेण वा किलिंचेण वा अंगुलियाए वा सलागाए वा सलागहत्थेण वा न आलिहेज्जा न विलिहेज्जा न घट्टेज्जा न भिंदेज्जा अन्नं वा न आलिहावेज्जा न विलिहावेज्जा न घट्टावेज्जा न भिंदावेज्जा अन्नं आलिहंतं वा विलिहंतं वा घट्टंतं वा भिंदंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं**

तीन करण अरु मन वच काय, जावजीव कों त्याग कराय ।
निशि-भोजन से होऊं विरक्त, कारित अनुमोदन-संयुक्त ।।३।।
पूरव दोष जु लाग्यो होय, निंदा गरिहा करि तजुं सोय ।
छट्ठे व्रत में मैं इह भांत, भया उपस्थित हूं जगतात ।।४।।

अर्थ—भन्ते, इसके पश्चात् छट्ठे व्रत में रात्रि-भोजन से विरमण होता है। भगवन्, मैं सर्व प्रकार के रात्रि-भोजन का प्रत्याख्यान करता हूं अशन (दाल-भात, रोटी आदि) पान (दूध, छांछ; जल आदि) खाद्य (मोदक, पकवान, सूखे मेवा आदि) स्वाद्य (लोंग, इलायची, ताम्बूलादि) इन चारों प्रकार के आहारों में से किसी भी प्रकार के आहार को मैं रात्रि में स्वयं नहीं खाऊंगा, दूसरे को नहीं खिलाऊंगा और खाने वाले अन्य जनों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा, यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से—मन से वचन से काय से—न करूंगा, न कराऊंगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा। भगवन्, मैं भूतकाल के रात्रि-भोजन-पाप से निवृत्त होता हूं, उसकी निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं। भदन्त, मैं छट्ठे व्रत में सर्व रात्रि-भोजन से निवृत्त होकर उपस्थित हुआ हूं।

(१७)

दोहा—पंच महाव्रत छठा यह, निशि-भोजन-व्रत लेय।
भगवन्, आत्म-हितार्थ मैं, विचरूं तुझ पद सेय ।।

(१८)

कवित्त—

विरत होय प्रत्याख्यात-पाप होय, भिक्षुणी या भिक्षु होय दिन में या रात में,
या सोवते, एकान्त जात आवते, अथवा अनेक जन होवें संग-साथ में।
भित्ति शिला वृत्ति, ढेले गिट्टि आदि होय, लगी हो सचित्त रज चाहे हाथ-पांव में,
वस्त्र हो सरजस्क या कोई देह-भाग होय तिनको विलेखनादि करे न ज्ञात भाव में।।

काठ खपाच लेय, सलाई तसु पुंज लेय, लोह खंड शस्त्रभंड से न भू विदारि है,
ना करे घट्टनादि, विलेखन मर्दनादि और से हू उक्त काज करावै न सम्हारि है।
विलेखनादि करते हू पुरुष को न कभी करे, अनुमोदन त्रिकरण त्रियोग से त्यागै है,
जाव-जीव पृथ्वी काय-घात न कभी कराय, करते हू अन्य की न घात अनुमोदै है।।

चौपाई— पूरव दोष जु लाग्यो होय, निंदा गरिहा करि तजुं सोय।
पृथिवी-हिंसा तजि इह भांत, भया उपस्थित हूं जगतात ।।१।।

तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते, पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

संस्कृत— स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-पापकर्मा-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एको वा परिषद्-गतो वा सुप्तो वा जाग्रद् वा—अथ पृथिवीं वा भित्तिं वा शिलां वा लेष्टुं (लोष्ठं) वा ससरक्षं वा कायं ससरक्षं वा वस्त्रं हस्तेन वा पादेन वा काष्ठेन वा कलिञ्चेन वा अङ्गुल्या वा शलाकया वा शलाकाहस्तेन वा—नालिखेत् न विलिखेत् न घट्टयेत् न भिन्द्यात्, अन्येन नालेखयेत् न विलेखयेत् न घट्टयेत् न भेदयेत्, अन्यमालिखन्तं वा विलिखन्तं वा घट्टयन्तं वा भिन्दन्तं वा न समनुजानीयात् यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त, प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि।

(१९)

मूल— से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से उदगं वा ओसं वा हिमं वा महियं वा करगं वा हरतणुगं वा सुद्धोदगं वा उदओल्लं वा कायं उदओल्लं वा वत्थं ससिणिद्धं वा कायं ससिणिद्धं वा वत्थं न आमुसेज्जा, न संफुसेज्जा, न आवीलेज्जा न पवीलेज्जा, न अक्खोडेज्जा, न पक्खोडेज्जा, न आयावेज्जा न पयावेज्जा, अन्नं न आमुसावेज्जा, न संफुसावेज्जा, न आवीलावेज्जा, न पवीलावेज्जा, न अक्खोडावेज्जा, न पक्खोडावेज्जा, न आयावेज्जा, न पयावेज्जा, अन्नं आमुसंतं वा संफुसंतं वा, आवीलंतं वा, पवीलंतं वा अक्खोडंतं वा पक्खोडंतं वा आयावंतं वा पयावंतं वा न समणुजाणेज्जा

अर्थ—वह संयम (संयम में उपस्थित) विरत (हिंसादि से निवृत्त) प्रतिहत-पापकर्मा (अतीतकाल-सम्बन्धी पापों का त्यागी) प्रत्याख्यात पापकर्मा (भविष्यत्काल के लिए पापों का त्यागी) भिक्षु या भिक्षुणी, दिन में या रात में, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में — पृथ्वी भित्ति शिला, ढेले, सचित्त रज से संसृष्ट काय अथवा सचित्त रज से संसृष्ट वस्त्र का हाथ-पांव काष्ठ खपाच, अंगुली शलाका अथवा शलाका-समूह से स्वयं न आलेखन (कुरेदना) करे, न विलेखन (पुनः पुनः कुरेदना या खोदना) करे, न घट्टन (हिलाना-चलाना) करे और न भेदन (तोड़ना-फोड़ना) करे, इसी प्रकार दूसरे से न आलेखन करावे, न विलेखन करावे, न घट्टन करावे, और न भेदन करावे। तथा आलेखन विलेखन घट्टन या भेदन करने वाले अन्य पुरुष का अनुमोदन करे। यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से — मन वचन काय से न करूंगा, न कराऊंगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा। हे भगवन्, मैं भूतकाल में किये गये पृथ्वी-समारम्भ के पाप से निवृत्त होता हूं, उसकी निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं।

(१९)

कवित्त —

संयत विरत होय, प्रत्याख्यात-पाप होय, भिक्षुणी या भिक्षु होय, दिन में या रात में,
जागते या सोवते, अकेले जात आवते, अथवा अनेक जन होवें संग-साथ में।
उदक ओसबिन्दु बर्फ फुंअरादि ओला गर्क, दूबा-बिन्दु नभो-अम्बु गीला वस्त्र आप में,
जरा भी न स्पर्श करे, दाबे न निचोड़े ताहि, झाड़े न झड़ावे ताहि सुखावे न धूप में॥
उक्त पाप करें नांहि, पर से कराय नाहिं, करते हू की अनुमोदना सदा त्यागें है,
मन वच काय आप त्रिकरण त्याग पाप, जल-घात से विमुक्त होय धर्म में पागें है।
पूरब के जो दोष होंय, त्यागि तिन्हें शुद्ध होय, प्रतिक्रम कर आप आपकूं ही निन्दें है,
गर्हा कर बार-बार भार पाप का जु टार, आतमा का आपमांहि व्युत्सर्ग करें है॥

अर्थ—वह संयत विरत प्रतिहत-पापकर्मा और प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु या भिक्षुणी दिन या रात में सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में उदक (कूप, तालाब आदि का जल) ओस (रात में आकाश से पड़ने वाली सूक्ष्म-बिन्दु) हिम (बर्फ या पाला) महिका (धूंआधार कुहरा) करक (ओला-गड़ा) हरतणुक (भूमि से निकल

जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते, पडिक्कामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

संस्कृत— स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्-गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा-अथ उदकं वा ओसं वा हिमं वा महिकां वा करकं वा हरतनुकं वा शुद्धोदकं वा उदकार्द्रं वा कायं उदकार्द्रं वा वस्त्रं सस्निग्धं वा कायं सस्निग्धं वा वस्त्रं— नाऽऽमृशेत्, न संस्पृशेत्, नाऽऽपीडयेत्, न प्रपीडयेत्, नाऽऽस्फोटयेत्, न प्रस्फोटयेत् नाऽऽतापयेत्, न प्रतापयेत्, अन्येन नाऽऽमर्शयेत्, न संस्पर्शयेत्, नाऽऽपीडयेत्, न प्रपीडयेत्, नाऽऽस्फोटयेत् न प्रस्फोटयेत्, नाऽऽतापयेत्, न प्रतापयेत्, अन्यमामृशन्तं वा, संस्पृशन्तं वा, आपीडयन्तं वा प्रपीडयन्तं वा, आस्फोटयन्तं वा, प्रस्फोटयन्तं वा, आतापयन्तं वा प्रतापयन्तं वा न समनुजानीयात्। यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त, प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि।

(२०)

मूल— **से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा - से अगणिं वा इंगालं वा मुम्मुरं वा अच्चिं वा जालं वा अलायं वा सुद्धागणिं वा उक्कं वा न उंजेज्जा, न घट्टेज्जा, न उज्जालेज्जा, न निव्वावेज्जा अन्नं न उंजावेज्जा, न घट्टावेज्जा, न उज्जालावेज्जा, न निव्वावेज्जा अन्नं उंजंतं वा घट्टंतं वा उज्जालंतं वा निव्वावंतं वा न समणुजाणेज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं-मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते, पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।**

कर हरी घास आदि पर आने वाले जल कण) शुद्धोदक (आकाश से बरसने वाला जल) से भीगे शरीर अथवा जल से भीगे वस्त्र, जल से स्निग्ध शरीर, अथवा जल से स्निग्ध वस्त्र का न आमर्श (एक बार स्पर्श) करे, न संस्पर्श (बार-बार स्पर्श) करे, न आपीडन (दबाना, एक बार निचोड़ना) करे, न प्रपीडन (बार-बार दबाना या निचोड़ना) करे, न आस्फोटन (थोड़ा या एक बार झटकना) करे न प्रस्फोटन (बहुत या बार-बार झटकना) करे, न आतापन (धूप में एक बार या थोड़ा सुखाना) करे, न प्रतापन (धूप में अनेक बार या बहुत देर तक सुखाना) करे। दूसरों से न जल-ओस आदि का आमर्श करावे, न संस्पर्श करावे, न आपीडन करावे, न प्रपीड़न करावे, न आस्फोटन करावे, न प्रस्फोटन करावे, न आतापन करावे, न प्रतापन करावे। आमर्श, संस्पर्श, आपीडन, प्रपीडन, आस्फोटन, प्रस्फोटन, आतापन या प्रतापन करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से—मन से वचन से काय से न करूंगा, न कराऊंगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा। हे भगवन्, मैं भूतकाल में किये गये जल-समारम्भ के पाप से निवृत्त होता हूं, उसकी निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं।

(२०)

कवित्त—

संयत विरत होय, प्रत्याख्यात पाप होय, भिक्षुणी या भिक्षु होय, दिन में या रात में,
जागते या सोवते, अकेले जात-आवते, अथवा अनेक जन होवें संग-साथ में।
अगनि अंगारे मुर्मुर अर्चि ज्वाला तारे, अलात शुद्ध अग्नि अथ उल्कादि अग्नि में,
करें न उत्सेचन, घट्टनादि ना करें, बुझाय न दबाय ताहि, पाप तजे मन में॥
उक्त पाप करें नांहि, पर से कराय नांहि, करते हू की अनुमोदना सदा त्यागें है,
मन वच काय आप त्रिकरण त्यागि पाप, अग्नि-घात से विमुक्त होय धर्म पागें है।
पूरव के जे दोष होंय, त्यागि तिन्हें शुद्ध होय प्रतिक्रम कर आप आप ही कूं निन्दें है,
गर्हा करि वार-बार, भार पाप का उतार, आतमा का आप मांहि व्युत्सर्ग करें है॥

अर्थ—वह संयत, विरत, प्रतिहत-पापकर्मा, प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु या भिक्षुणी, दिन में या रात में, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में—अग्नि (लोह-पिण्ड में प्रविष्ट स्पर्शग्राह्य तेजस्) अंगारे (ज्वाला-धूम-रहित धधकते कोयले)

संस्कृत— स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा-अथ अग्नि वा अङ्गारं वा मुर्मुरं वा अर्चिर्वा ज्वालां वा अलातं वा शुद्धाग्नि वा उल्कां वा-नोत्सिञ्चेत्, न घट्टयेत्, नोज्ज्वालयेत्, न निर्वापयेत्, अन्येन नोत्सेचयेत्, न घट्टयेत्, नोज्ज्वालयेत्, न निर्वापयेत्, अन्यमुत्सिञ्चन्तं वा घट्टयन्तं वा, उज्ज्वालयन्तं वा निर्वापयन्तं वा न समनुजानीयात्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त, प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

(२१)

मूल— **से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमणे वा—से सिएण वा विहुयणेण वा तालियंटेण वा पत्तेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पिहुणेण वा पिहुणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकण्णेण वा हत्थेण वा मुहेण वा अप्पणो वा कायं बाहिरं वा वि पुग्गलं न फुमेज्जा न वीएज्जा अन्नं न फुमावेज्जा न वीयावेज्जा अन्नं फुमंतं वा वीयंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेण वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।**

संस्कृत— स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्-गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा-अथ सितेन वा विधुवनेन वा ताल-वृन्तेन वा पत्रेण वा शाखया वा शाखाभङ्गेन वा पेहुणेण वा पेहुणहस्तेन वा चेलेन वा चेलकर्णेन वा हस्तेन वा मुखेन वा आत्मनो वा कायं बाह्यं वापि पुद्गलं न

मुर्मुर (राख-भस्म आदि से ढकी अग्नि) अर्चि (मूल अग्नि से विच्छिन्न ज्वाला, दीपक का अग्रभाग) ज्वाला (प्रदीप्ताग्नि से सम्बद्ध अग्नि-शिखा) अलात (अधजली लकड़ी की आग) शुद्धाग्नि (इन्धन-रहित अग्नि) उल्का (आकाश से गिरने वाली गाज, विजली आदि) का न उत्सेचन (सींचना, तेज करना) करे, न घट्टन (अन्य काठ आदि से घर्षण-मर्दनादि) करे, न उज्ज्वालन (पंखे आदि से आग को तेज करना) और न निर्वाण (बुझाना) करे। न दूसरों से उत्सेचन करावे, न घट्टन करावे, न उज्ज्वालन करावे, और न बुझवावे। तथा उत्सेचन, घट्टन, उज्ज्वालन या निर्वाण करने वाले अन्य का अनुमोदन न करे। यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से—मन से वचन से काय से—न करूंगा, न कराऊंगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा। भगवन्, मैं भूतकाल में किये गये अग्नि-समारम्भ के पाप से निवृत्त होता हूं, उसकी निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं।

(२१)

कवित्त—

संयत विरत होय, प्रत्याख्यात-पाप होय, भिक्षुणी या भिक्षु होय, दिन में या रात में,
जागते या सोवते, अकेले जात-आवते, अथवा अनेक जन होवें संग-साथ में।
चंवर से या पखे से, बीजने या पात्र से, शाखा मोर-पिच्छकादि लेय आप हाथ में,
वस्त्र से या हस्त से, मुख से या अन्य से, फूंके न हवा करे कभी काहू काल में॥

उक्त पाप करै नांहि पर से कराय नांहि, करते हू को अनुमोदना सदा त्यागै है,
मन वच काय आप त्रिकरण त्यागि पाप, वायु-घात से विमुक्त होय धर्म पागै है।
पूरव के जे दोष होंय, त्यागि तिन्हें शुद्ध होय, प्रतिक्रम कर आप आप ही कूं निन्दै है,
गर्हा करि बार बार, भार पाप का उतार, आतमा का आप मांहि व्युत्सर्ग करै है॥

अर्थ—वह संयत विरत प्रतिहत-पापकर्मा प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु या भिक्षुणी दिन में या रात में, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में—चामर से, पखे से, वीजने से, पत्ते से, शाखा (वृक्ष की डाली) से, शाखा-भंग (डालों के टुकड़े) से, मोर-पंख से, मोर-पिच्छी से, वस्त्र से, वस्त्र के पल्ले से, हाथ से या मुख से, अपने शरीर के पसीने को या बाहिरी धूल आदि को न स्वयं फूंके न हवा करे, दूसरों से न फुंकावे, न हवा करावे, फूंकने वाले या हवा करने वाले अन्य पुरुष का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से—मन से वचन से काय से—न करूंगा, न कराऊंगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा।

फूत्कुर्यात् न व्यजेत्, अन्येन न फूत्कारयेत् न व्याजयेत्, अन्यं फूत्कुर्वन्तं वा व्यजंतं वा न समनुजानीयात् यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त, प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि।

(२२)

मूल— **से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से बीएसु वा बीयपइट्ठिएसु वा रूढेसु वा रूढ-पइट्ठिएसु वा जाएसु वा जायपइट्ठिएसु वा हरिएसु वा हरिय-पइट्ठिएसु वा छिन्नेसु वा छिन्नपइट्ठिएसु वा सच्चित्तकोलपडि-निस्सिएसु वा न गच्छेज्जा न चिट्ठेज्जा न निसीएज्जा न तुय-ट्टेज्जा अन्नं न गच्छावेज्जा न चिट्ठावेज्जा न निसीयावेज्जा न तुयट्टावेज्जा, अन्नं गच्छंतं वा चिट्ठंतं वा निसीयंतं वा तुयट्टंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणु-जाणामि, तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।**

संस्कृत— स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद् वा—अथ बीजेषु वा बीजप्रतिष्ठितेषु वा रूढेषु वा रूढप्रतिष्ठतेषु वा जातेषु वा जातप्रतिष्ठितेषु वा हरितेषु वा हरितप्रतिष्ठितेषु वा छिन्नेषु वा छिन्नप्रतिष्ठतेषु वा सचित्तकोलप्रतिनिश्रितेषु वा—न गच्छेत् न तिष्ठेत् न निषीदेत् न त्वग्वर्तेत, अन्यं न गमयेत् न स्थापयेत् न निषीदयेत् न त्वग्वर्तयेत् अन्यं गच्छन्तं वा तिष्ठन्तं वा

भगवन् मैं भूतकाल में की गई वायकाय की विराधना के पाप से निवृत्त होता हूं, उसकी निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं।

(२२)

कवित्त—

संयत विरत होय प्रत्याख्यात-पाप होय, भिक्षुणी या भिक्षु होय, दिन में या रात में,
जागते या सोवते, अकेले जात आवते, अथवा अनेकजन होवें संग-साथ में।
बीज रूढ़ जात आदि हरित सचित्त पत्र, शाखा खंध छाल फल-फूल में,
और हू अनेक भेद कहे जो हैं सूत्र-माँहि, जीव रहें तिनके भी सर्व अंग मूल में॥

बीज होय, रूढ़ होय, जात या हरित होय, सचित्त पत्र शाखा आदि कोई हरियाली हो
इन पै रखे पीठ आसन फलक आदि, वस्त्र विस्तरादि अन्य कछु द्रव्य हो।
इन पै न आवे जावे, बैठे सोवै नाहिं कभी, घुन लगे काठ आदि का न उपयोग हो,
वनस्पति जाति जेती, घात न करे कदापि, उनकी सुजतना में सदा सावधान हो।

उक्त पाप करै नाहिं, पर से कराय नांहि, करते हू की अनुमोदना सदा त्यागै है,
मन वच काय आप त्रिकरण त्यागि पाप वनस्पति-घात से विमुक्त धर्म पागै है।
पूरव के जो दोष होंय, त्यागि तिन्हें शुद्ध होय प्रतिक्रम कर आप आप ही कूं निन्दै है,
गर्हा करि बार-बार भार पाप का उतार, आत्मा का आप मांहि व्युत्सर्ग करै है।

अर्थ—वह संयत, विरत, प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु या भिक्षुणी, दिन में या रात में, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में— बीजों पर, बीजों पर रखी वस्तुओं पर, रूढ़ बीजों पर (बीज जब भूमि में से बाहर निकलता है, तब उसे रूढ़ कहा जाता है। यह बीज अंकुर के बीच की अवस्था है, अंकुर निकलने के पूर्व स्फुटित बीजों पर) रूढ़ बीजों पर रखी हुई वस्तुओं पर, जात (पत्ते आने की अवस्था वाली) वनस्पति पर, जात वनस्पति पर स्थिति वस्तुओं पर, हरित पर, हरित पर रखी वस्तुओं पर, छिन्न वनस्पति के अंगों पर, छिन्न वनस्पति के अंगों पर रखी वस्तुओं पर, अंडों पर, एवं घुन लगे सचित्त कोल आदि काठ पर न चले, न खड़ा रहे, न बैठे, न लेटे, दूसरों को न चलावे, न खड़ा करे, न बैठावे, न लेटावे तथा

निषीदन्तं वा त्वग्वर्तमानं वा—न समनुजानीयात् यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

(२३)

मूल - **से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से कीलं वा पतंगं वा कुंथुं वा पिवीलियं वा हत्थंसि वा पायंसि वा बाहुंसि वा ऊरुंसि वा उदरंसि वा सीसंसि वा वत्थंसि वा पडिग्गहंसि वा रयहरणंसि वा गोच्छगंसि वा उंडगंसि वा दंडगंसि वा पीढगंसि वा फलगंसि वा सेज्जंसि वा संथारगंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए तओ संजयामेव पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय एगंतमवणेज्जा, नो णं संघायमावज्जेज्जा ।**

संस्कृत— स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद् वा —अथ कीटं वा पतङ्गं वा कुन्थुं वा पिपीलिकां वा हस्ते वा पादे वा बाहौ वा उरौ वा उदरे वा शीर्षे वा वस्त्रे वा प्रतिग्रहे वा रजोहरणे वा गुच्छके वा उन्दुके वा दण्डके वा पीठके वा फलके वा शय्यायां वा संस्तारके वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे उपकरणजाते ततः संयतमेव प्रतिलिख्य प्रतिलिख्य प्रमृज्य प्रमृज्य एकान्तमपनयेत् नैनं संघातमापादयेत् ।

(१)

मूल— **अजयं चरमाणो उ पाण-भूयाइं हिंसई ।**
बंधइ पावयं कम्मं तं से होइ कडुयं फलं ॥

संस्कृत— अयतं चरंस्तु प्राण - भूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥

चलने, खड़ा रहने, बैठने या लेटने वाले का अन्य पुरुष का न अनुमोदन करे, यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से—मन से वचन से काय से– न करूंगा, न कराऊंगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूंगा। हे भगवन्. मैं भूतकाल में किये गये वनस्पति समारम्भ के पाप से निवृत्त होता हूं, उसकी निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूं।

(२३)

कवित्त—

संयत विरत होय प्रत्याख्यात-पाप होय, भिक्षुणी या भिक्षु होय, दिन में या रात में,
जागते या सोवते, अकेले जात आवते, अथवा अनेक जन होवें संग साथ में।
कीट हो, पतंग हो, कीड़ी हो या भौंरा हो, हाथ पांव बाहु आदि उर उदर शीस में,
वस्त्र पात्र पाद-प्रोंछन, पीठ या फलक पै, तिनको प्रतिलेखें वह सदा सावधानी में।

दोहा—परिमार्जन प्रति-लेखना, कर छोड़े एकान्त।
कभी करै ना भूल से, जीवनि का संघात ॥१॥

अर्थ—संयत विरत प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु या भिक्षुणी दिन में या रात में, सोते या जागते, एकांत में या परिषद् में कीट, पतंग, कुन्थु या पिपीलिका हाथ, पैर, बाहु, उरु (जांघ), उदर, शिर, वस्त्र, पात्र, रजोहरण, गोच्छग (पात्र को ढांकने का वस्त्र), उन्दुक, दण्डक (लकड़ी, डंडा), पीठ (बैठने का पीढ़ा, बाजौठ), फलक (लेटने का तख्ता)। शैय्या या संस्तारक (विस्तर) पर तथा इसी प्रकार के किसी अन्य उपकरण पर चढ़ जावे तो सावधानीपूर्वक धीरे-धीरे प्रतिलेखन कर, प्रमार्जन कर उन्हें वहां से हटा कर एकान्त में रख दे, किन्तु उनका संघात न करे —त् जिससे उन प्राणियों को पीड़ा पहुंचे, ऐसी रीति से नहीं रखे।

(१)

दोहा—अजतन तें चलतो हनै, प्रानि भूत गन जोय।
पाप करम ता करि बंधै, ताको कटु फल होय॥

अर्थ—अयतना-पूर्वक चलने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है, उससे पाप कर्म का बन्ध होता है, वह उसके लिए कटु फल देने वाला होता है।

(२)

मूल— अजयं चिट्ठमाणो उ पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं तं से होइ कडुयं फलं ॥

संस्कृत— अयतं तिष्ठंस्तु प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥

(३)

मूल— अजयं आसमाणो उ पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं तं से होइ कडुयं फलं ॥

संस्कृत— अयतमासमानस्तु प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥

(४)

मूल— अजयं सयमाणो उ पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं तं से होइ कडुयं फलं ॥

संस्कृत— अयतं शयानस्तु प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥

(५)

मूल— अजयं भुंजमाणो उ पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं तं से होइ कडुयं फलं ॥

संस्कृत— अयतं भुञ्जानस्तु प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥

(६)

मूल— अजयं भासमाणो उ पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधइ पावयं कम्मं तं से होइ कडुयं फलं ॥

संस्कृत— अयतं भाषमाणस्तु प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ॥

(२)

दोहा—अजतन तें ठहर्‌यो हनै, प्रानि भूत गन जोय ।
पाप करम ता करि बंधै, ताको कटुफल होय ॥

अर्थ—अयतनापूर्वक खड़ा होने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पापकर्म का बन्ध होता है। वह उसके लिए कटुक फल देने वाला होता है।

(३)

दोहा—अजतन तें बैठो हनै, प्रानि भूत गन जोय ।
पाप करम ता करि बंधै, ताको कटुफल होय ॥

अर्थ—अयतनापूर्वक बैठने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पापकर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटुक फल देने वाला होता है।

(४)

दोहा—अजतन तें सूतौ हनै, प्रानि भूत गन जोय ।
पाप करम ता करि बंधै, ताको कटुफल होय ॥

अर्थ—अयतनापूर्वक सोनेवाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पापकर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटुक फल देने वाला होता है।

(५)

दोहा—अजतन तें खातौ हनै, प्रानि भूत गन जोय ।
पाप करम ता करि बंधै, ताको कटुफल होय ॥

अर्थ—अयतनापूर्वक भोजन करनेवाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पापकर्म का बन्ध होता है। वह उसके लिए कटुक फल देने वाला होता है।

(६)

दोहा—अजतन तें कहतौ हनै, प्रानि भूत गन जोय ।
पाप करम ता करि बंधै, ताको कटुफल होय ॥

अर्थ—अयतनापूर्वक बोलने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पापकर्म का बन्ध होता है। वह उसके लिए कटुक फल देने वाला होता है।

(७)

मूल— **कहं चरे कहं चिट्ठे कहमासे कहं सए ।**
कहं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधई ॥

संस्कृत— कथं चरेत् कथं तिष्ठेत् कथमासीत् कथं शयीत ।
कथं भुञ्जानो भाषमाणः पापं कर्म न बध्नाति ॥

(८)

मूल— **जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए ।**
जयं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधई ॥

संस्कृत— यतं चरेद् यतं तिष्ठेद् यतमासीत यतं शयीत ।
यतं भुञ्जानो भाषमाणः पापं कर्म न बध्नाति ॥

(९)

मूल— **सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइ पासओ ।**
पिहियासवस्स दंतस्स पावं कम्मं न बंधई ॥

संस्कृत— सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग् भूतानि पश्यतः ।
पिहितास्रवस्य दान्तस्य पापं कर्म न बध्यते ॥

(१०)

मूल— **पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।**
अन्नाणी किं काही किंवा नाहिइ छेय पावगं ॥

संस्कृत— प्रथमं ज्ञानं ततो दया एवं तिष्ठति सर्वसंयतः ।
अज्ञानी किं करिष्यति, किं वा ज्ञास्यति छेक पापकम् ॥

(११)

मूल— **सोच्चा जाणइ कल्लाणं सोच्चा जाणइ पावगं ।**
उभयं पि जाणइ सोच्चा जं छेयं तं समायरे ॥

संस्कृत— श्रुत्वा जानाति कल्याणं श्रुत्वा जानाति पापकम् ।
उभयमपि जानाति श्रुत्वा यच्छेकं तत्समाचरेत् ॥

(७)

दोहा—किमि चलिये, किमि ठहरिये, किमि बैठिय, किमि सोय।
किमि खाइय, किमि बोलिये, जासों पाप न होय॥

अर्थ—कैसे चले, कैसे खड़ा हो, कैसे बैठे, कैसे सोये, कैसे खाये और कैसे बोले ? जिससे पापकर्म का बन्ध न हो ?

(८)

दोहा—जतन चलिय, ठहरिय जतन, जतन बैठि अरु सोय।
जतनहिं खाइय, भाखिये, तासों पाप न होय॥

अर्थ—यतनापूर्वक चले, यतनापूर्वक खड़ा हो, यतनापूर्वक बैठे, यतनापूर्वक सोवे, यतनापूर्वक खावे और यतनापूर्वक बोले। इससे पाप कर्म नहीं बंधता है।

(९)

चौपाई— निज समान सब जीवनि जानै, जीवनि पै सम दीठ जु आनै।
आस्रव-रोधी, दमी जु होई, पाप करम बंधत नहिं कोई॥

अर्थ—जो सब जीवों को अपने समान मानता है, जो सब जीवों को सम्यक् दृष्टि से देखता है, जो आस्रव का निरोधक है, और इन्द्रियों का दान्त (निग्राहक-जयी) है, उसके पाप कर्म का बन्ध नहीं होता है।

(१०)

दोहा—प्रथम ज्ञान पाछैं दया, यों सब संजति थाप।
अज्ञानी कैसे करे, का जानै पुन-पाप॥

अर्थ—पहिले ज्ञान, तत्पश्चात् दया, इस प्रकार से सब संयती संयम में स्थित होते हैं। अज्ञानी क्या करेगा ? वह क्या जानेगा कि क्या श्रेय है और क्या पाप है ?

(११)

दोहा—सुनि जानै कल्याण कों, सुनि ही जानै पाप।
सुनि कै जानै दुहुनिकों, जो हित करै सु आप॥

अर्थ—जीव सुनकर कल्याण को जानता है और सुनकर ही पाप को जानता है। कल्याण और पाप दोनों ही सुनकर जाने जाते हैं। इनमें से जो श्रेय हो, उसी का आचरण करना चाहिए।

(१२)

मूल— **जो जीवे वि न याणाइ अजीवे वि न याणई ।**
जीवाजीवे अयाणंतो कहं सो नाहिइ संजमं ॥

संस्कृत— यो जीवानपि न जानाति अजीवानपि न जानाति ।
जीवाजीवानजानन् कथं स ज्ञास्यति संयमम् ॥

(१३)

मूल— **जो जीवे वि वियाणाइ अजीवे वि वियाणई ।**
जीवाजीवे वियाणंतो सो हु नाहिइ संजमं ॥

संस्कृत-- यो जीवानपि विजानाति अजीवानपि विजानाति ।
जीवाजीवान् विजानन् स हि ज्ञास्यति संयमम् ॥

(१४)

मूल— **जया जीवे अजीवे य दो वि एए वियाणई ॥**
तया गइं बहुविहं सव्व जीवाण जाणई ।

संस्कृत— यदा जीवानजीवांश्च द्वावप्येतौ विजानाति ।
तदा गतिं बहुविधां सर्व जीवानां जानाति ॥

(१५)

मूल-- **जया गइं बहुविहं सव्वजीवाण जाणई ।**
तया पुण्णं च पावं च बंधं मोक्खं च जाणई ॥

संस्कृत— यदा गतिं बहुविधां सर्वजीवानां जानाति ।
तदा पुण्यं च पापं च बन्धं मोक्षं च जानाति ॥

(१६)

मूल— **जया पुण्णं च पावं च बंधं मोक्खं च जाणई ।**
तया निव्विंदिए भोए जे दिव्वे जे य माणुसे ॥

संस्कृत— यदा पुण्यं च पापं च बन्धं मोक्षं च जानाति ।
तदा निर्विन्ते भोगान् यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान् ॥

(१२)

दोहा—जो जीवहु जानै नहीं, अरु अजीवहु न जान ।
जीव-अजीव न जानतो सो संजम किम जान ॥

अर्थ—जो जीवों को भी नहीं जानता, अजीवों को भी नहीं जानता, वह जीव और अजीव को न जानने वाला संयम को कैसे जानेगा ?

(१३)

दोहा—जो जीवहु को जानई, अरु अजीव हूं जान ।
जीव-अजीवहिं जानतो, सो संजम हूं जान ॥

अर्थ—जो जीवों को भी जानता है और अजीवों को भी जानता है, वही—जीव और अजीव दोनों को जाननेवाला ही संयम को जान सकेगा ।

(१४)

दोहा—जानै जीव अजीव जब, दोऊ जानत जोय ।
तब बहुविध गति जानई, सब जीवनिकों सोय ॥

अर्थ—जब मनुष्य जीव और अजीव इन दोनों को जान लेता है, तब वह सब जीवों की बहुविध गतियों को भी जान लेता है ।

(१५)

दोहा—जब बहुविध गति जान ही, सब जीवनिकों जान ।
तब जानै बंध रु मुकति, पुन्य-पाप पहिचान ॥

अर्थ—जब मनुष्य सब जीवों की बहुविध गतियों को जान लेता है, तब वह पुण्य-पाप, बन्ध और मोक्ष को भी जान लेता है ।

(१६)

दोहा—जब जानै बंध रु मुकति, पुन्य पाप पहिचान ।
तब सुर-नर के भोग सब, लेत असार सु जान ॥

अर्थ—जब मनुष्य पुण्य-पाप, बन्ध और मोक्ष को जान लेता है, तब जो भी देवों और मनुष्यों के भोग हैं, उनसे विरक्त हो जाता है ।

(१७)

मूल— जया निव्विदिए भोए जे दिव्वे जे य माणुसे ।
तया चयइ संजोगं सब्भिंतर - बाहिरं ॥

संस्कृत— यदा निर्विन्ते भोगान् यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान् ।
तदा त्यजति संयोगं साभ्यन्तर - बाह्यम् ॥

(१८)

मूल— जया चयइ संजोगं सब्भिंतर - बाहिरं ।
तया मुंडे भवित्ताणं पव्वइए अणगारियं ॥

संस्कृत— यदा त्यजति संयोगं साभ्यन्तर - बाह्यम् ।
तदा मुण्डो भूत्वा प्रव्रजत्यनगारताम् ॥

(१९)

मूल— जया मुंडे भवित्ताणं पव्वइए अणगारियं ।
तया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ॥

संस्कृत— यदा मुण्डो भूत्वा प्रव्रजत्यनगारताम् ।
तदा संवरमुत्कृष्टं धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ॥

(२०)

मूल— जया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ।
तया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं ॥

संस्कृत— यदा संवरमुत्कृष्टं धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ।
तदा धुनाति कर्मरजः अबोधि - कलुषं कृतम् ॥

(२१)

मूल— जया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं ।
तया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छई ॥

संस्कृत— यदा धुनाति कर्मरजः अबोधि - कलुषं कृतम् ।
तदा सर्वत्रगं ज्ञानं दर्शनं चाभिगच्छति ॥

(१७)

दोहा—जब सुर-नर के भोग जे, जान असार जु लेत ।
तब बाहिर भीतर हु के, संजोगनि तजि देत ॥

अर्थ—जब मनुष्य दैविक और मानुषिक भोगों से विरक्त हो जाता है, तब वह भीतरी और बाहिरी संयोग को त्याग देता है ।

(१८)

दोहा—जब बाहिर भीतर हू के, संयोगनि तजि देत ।
तब मुंडित ह्वै के गहै, पद अनगार सहेत ।।

अर्थ—जब मनुष्य भीतरी और बाहिरी सब संयोग को त्याग देता है, तब वह मुंडित होकर अनगार (साधु) वृत्ति को स्वीकार करता है ।

(१९)

दोहा—जब मुंडित ह्वै के गहै, पद अनगार सहेत ।
तब महान संवर परसि, परम धरम को लेत ॥

अर्थ—जब मनुष्य मुंडित होकर अनगार-वृत्ति को स्वीकार करता है तब वह उत्कृष्ट संवरात्मक अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है ।

(२०)

दोहा—जब महान संवर परसि, परम धरम को लेत ।
तब अबोधि पातक मई, झटकि करम-रज देत ॥

अर्थ—जब मनुष्य उत्कृष्ट संवरात्मक अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है, तब वह अबोधि (अज्ञान और मिथ्यात्व) रूप पाप-द्वारा संचित कर्म-रज को धुन डालता है ।

(२१)

दोहा—जब अबोधि पातक मई, झटकि करम-रज देत ।
तब सब व्यापी ज्ञान अरु दरसन को पा लेत ॥

अर्थ—जब वह अबोधि रूप पाप-द्वारा संचित कर्म-रज को धुन डालता है, तब वह सर्वत्रगामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है ।

(२२)

मूल— **जया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छई ।**
तया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली ॥

संस्कृत— यदा सर्वत्रगं ज्ञानं दर्शनं चाभिगच्छति ।
तदा लोकमलोकं च जिनो जानाति केवली ॥

(२३)

मूल— **जया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली ।**
तया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जई ॥

संस्कृत— यदा लोकमलोकं च जिनो जानाति केवली ।
तदा योगान् निरुध्य शैलेशीं प्रतिपद्यते ॥

(२४)

मूल— **जया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जई ।**
तया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥

संस्कृत— यदा योगान् निरुध्य शैलेशीं प्रतिपद्यते ।
तदा कर्म क्षपयित्वा सिद्धिं गच्छति नीरजाः ॥

(२५)

मूल— **जया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।**
तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो हवइ सासओ ॥

संस्कृत— यदा कर्म क्षपयित्वा सिद्धिं गच्छति नीरजाः ।
तदा लोकमस्तकस्थः सिद्धो भवति शाश्वतः ॥

(२६)

मूल— **सुहसायगस्स समणस्स सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।**
उच्छोलणापहोइयस्स दुलहा सुग्गइ तारिसगस्स ॥

संस्कृत— सुखस्वादकस्य श्रमणस्य साताकुलकस्य निकामशायिनः ।
उत्क्षालनाप्रधाविनः दुर्लभा सुगतिस्तादृशकस्य ॥

(२२)

दोहा—जब सब व्यापी ज्ञान अरु, दरसन को पा लेत ।
तब जानत जिन केवली, लोक अलोक-समेत ॥

अर्थ—जब वह सर्वत्र-गामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है, तब वह केवली जिन होकर लोक और अलोक को जान लेता है।

(२३)

दोहा—जब जानत जिन केवली, लोक अलोक समेत ।
तब जोगनिकों रोकि कैं, गिरि थिरता पा लेत ॥

अर्थ—जब वह केवली जिन होकर लोक-अलोक को जान लेता है, तब वह योगों का निरोधकर शैलेशी (पर्वत-सदृश स्थिर) अवस्था को प्राप्त होता है।

(२४)

दोहा—जब जोगनिकों रोकि कैं, गिरि-थिरता पा लेत ।
तब करमनि को नास करि, नीरज शिवपद लेत ॥

अर्थ—जब वह योग का निरोध कर शैलेशी अवस्था पा लेता है, तब वह कर्मों का क्षय कर नीरज (कर्म-रज-विमुक्त, हो सिद्धि को प्राप्त करता है।

(२५)

दोहा—जब करमनि को नास करि, नीरज शिव पद लेत ।
तब सु लोक-सिर थिति लिये, सास्वत सिद्ध सु होत ॥

अर्थ—जब वह कर्मों का क्षय कर रज-विमुक्त सिद्धि को प्राप्त करता है, तब वह लोक के मस्तक पर स्थित शाश्वत सिद्ध होता है।

(२६)

चौपाई—सुख-आस्वादक श्रमण जु होई, साता को उतकंठित जोई ।
आगम-वचन लंघि बहु सोवै, जो विनु जतन चरन-कर धोवै ॥
गारव तीनों जाके होंय, श्रमण-क्रिया में शिथिल जु सोय ।
ऐसो होय आचरन जाको य उत्तम गति दुर्लभ है ताको ॥

अर्थ—जो श्रमण सुख का रसिक, साता के लिए आकुल, अकाल में सोने-वाला और हाथ-पैर आदि को बार-बार धोने वाला होता है, उसके लिए सुगति दुर्लभ है।

(२७)

मूल — तवोगुणपहाणस्स उज्जुमइ - खंतिसंजमरयस्स ।
परीसहे जिणंतस्स सुलहा सुग्गइ तारिसगस्स ॥

संस्कृत— तपोगुणप्रधानस्य ऋजुमति-क्षान्तिसंयमरतस्य ।
परीषहान् जयतः सुलभा सुगतिस्तादृशकस्य ॥

(२८)

मूल — पच्छा वि ते पयाया खिप्पं गच्छंति अमर-भवणाइं ।
जेसिं पिओ तवो संजमो य खंती य बंभचेरं च ॥

संस्कृत— पश्चादपि ते प्रयाताः क्षिप्रं गच्छन्ति अमर-भवनानि ।
येषां प्रियं तपः संयमश्च क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यं च ॥

(२९)

मूल— इच्चेयं छज्जीवणियं सम्मद्दिट्ठी सया जए ।
दुलहं लभित्तु सामण्णं कम्मुणा न विराहेज्जासि ॥

— त्तिबेमि

संस्कृत— इत्येतां षड्जीवनिकां सम्यग्दृष्टिः सदा यतः ।
दुर्लभं लब्ध्वा श्रामण्यं कर्मणा न विराधयेत् ॥

—इति ब्रवीमि

(२७)

चौपाई— जिन में तप-प्रधान गुन पावैं, सरलमतो संजम रति लावें ।
खमी परीसह-विजयी जोई, सुलभ सुगति ऐसनिको होई ॥

अर्थ—जो श्रमण तपोगुण में प्रधान, सरल मति, क्षान्ति तथा संयम में रत और परीषहों को जीतने वाला होता है, उसके लिए सुगति सुलभ है ।

(२८)

दोहा—जिनको तप संजम क्षमा, शील हिये ते भाय ।
पाछे हू दीक्षित भये, अमर-भवन ते जाय ॥

अर्थ—जिन्हें तप, संयम, क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं, वे शीघ्र ही देव-भवनों (स्वर्ग) को प्राप्त होते हैं, भले ही वे पिछली अवस्था में प्रव्रजित हुए हों ।

(२९)

दोहा—लहिके दुरलभ स्रमनता, ए छट जीवनिकाय ।
सदा जतन सम-दरसि रखि, त्रिकरन तें न सताय ॥

अर्थ—दुर्लभ श्रमण भाव को प्राप्त कर सम्यक् दृष्टि और सदा सावधान श्रमण इस षड्जीवनिकाय की कर्मणा—मन वचन और काय से विराधना न करे । ऐसा मैं कहता हूं ।

पंचमं पिंडेसणा अज्झयणं

(पढमोद्देसो)

(१)

मूल— **संपत्ते भिक्खकालम्मि असंभंतो अमुच्छिओ ।**
इमेण कमजोगेण भत्त-पाणं गवेसए ॥

संस्कृत— सम्प्राप्ते भिक्षाकाले असंभ्रान्तोऽमूर्च्छितः ।
अनेन क्रमयोगेन भक्त-पानं गवेषयेत् ॥

(२)

मूल— **से गामे वा नगरे वा गोयरग्गगओ मुणी ।**
चरे मन्दमणुव्विग्गो अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥

संस्कृत— स ग्रामे वा नगरे वा गोचराग्रगतो मुनिः ।
चरेन्मन्दमनुद्विग्नः अव्याक्षिप्तेन चेतसा ॥

(३)

मूल— **पुरओ जुगमायाए पेहमाणो महिं चरे ।**
वज्जंतो बीय-हरियाइं पाणे य दगमट्टियं ॥

संस्कृत— पुरतो युगमात्रया प्रेक्षमाणो महीं चरेत् ।
वर्जयन् बीज-हरितानि प्राणांश्च दक-मृत्तिकाम् ॥

पंचम पिण्डैषणा अध्ययन

(प्रथम उद्देशक)

(१)

दोहा—समय पायके भीख कों भ्रांति-रहित विनु राग ।
या विधि खान रु पान कों, ढूंढन में मुनि लाग ।।

अर्थ—भिक्षा का काल प्राप्त होने पर मुनि भ्रान्ति-रहित एवं मूर्च्छारहित होकर आगे बतलाये जाने वाले क्रम-योग से भक्त-पान की गवेषणा करे।

(२)

दोहा—गयो गोचरी-काज मुनि, पुर गामादिक-मांहि ।
चलै मंद, उद्वेग-विनु, इत उत चित न चलाइ ।।

अर्थ— ग्राम या नगर में गोचरी के लिए गया हुआ वह मुनि धीमे-धीमे, उद्वेग-रहित एवं विक्षेप-रहित शान्त-चित्त होकर ईर्या-समिति-पूर्वक चले।

(३)

दोहा—आगे को जोवत चलै, निज-तनु के परमान ।
बीज हरित कों परिहरि, जंतु, जल हु मृतिकान ।।

अर्थ—सामने युग-प्रमाण चार हाथ भूमि देखता हुआ, बीज, हरियाली (वनस्पति), द्वीन्द्रियादि प्राणी, सचित्त जल और सचित्त मिट्टी को बचाता हुआ चले।

(४)

मूल ओवायं विसमं खाणुं विज्जलं परिवज्जए ।
संकमेण न गच्छिज्जा विज्जमाणे परक्कमे ॥

संस्कृत— अवपातं विषमं स्थाणुं विज्जलं परिवर्जयेत् ।
संक्रमेण न गच्छेत् विद्यमाने पराक्रमे ॥

(५)

मूल— पवडंते व से तत्थ पक्खलंते व संजए ।
हिंसेज्ज पाण-भूयाइं तसे अदुव थावरे ॥

संस्कृत— प्रपतन् वा स तत्र प्रस्खलन् वा संयतः ।
हिंस्यात् प्राण-भूतानि त्रसानथवा स्थावरान् ॥

(६)

मूल— तम्हा तेण न गच्छिज्जा संजए सुसमाहिए ।
सइ अन्नेण मग्गेण जयमेव परक्कमे ॥

संस्कृत— तस्मात्तेनं न गच्छेत् संयतः सुसमाहितः ।
सत्यन्यस्मिन् मार्गे यतमेव पराक्रमेत् ॥

(७)

मूल— इंगालं छारियं रासिं तुसरासिं च गोमयं ।
ससरक्खेहिं पाएहिं संजओ तं न इक्कम्मे ॥

संस्कृत— आङ्गारं क्षारिकं राशिं तुषराशिं च गोमयम् ।
ससरक्षाभ्यां पादाभ्यां संयतस्तं नाक्रामेत् ॥

(८)

मूल— न चरेज्ज वासे वासंते महियाए व पडंतीए ।
महावाए व वायंते तिरिच्छसंपाइमेसु वा ॥

संस्कृत— न चरेद् वर्षे वर्षति महिकायां वा पतन्त्याम् ।
महावाते वा वाति तिर्यक्-संपातेषु वा ॥

(४)

चौपाई— गड्ढा विसम पंथ परिहरई, ठूंठ तथा कादे तें टरई ।
सरितादिक उलंघि नहिं जावै, छतो पंथ दूजो जो पावै ॥

अर्थ— दूसरे अच्छे मार्ग के होते हुए गड्ढे, ऊबड़-खाबड़ भू-भाग, कटे हुए सूखे पेड़ या अनाज के डंठल और पंकिल (कीचड़-युक्त) मार्ग को टाले तथा संक्रम (जल या गड्ढे को पार करने के लिए काष्ठ या पाषाण-रचित पुल) के ऊपर से न जावे ।

(५)

चौपाई— जो संजमी गैल यहि धावै, सो आखड़ै तथा परि जावै ।
प्रानि भूत की हिंसा करई, त्रस अथवा थावर संहरई ॥

अर्थ— मार्ग से जाते हुए साधु का यदि वहां पैर फिसल जाय अथवा खड्ढे में गिर जाय, तो द्वीन्द्रियादि त्रस प्राणियों की तथा एकेन्द्रिय स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है । अर्थात् ऐसे मार्ग से चलने पर आत्म-पीड़ा और जीव-विराधना की संभावना रहती है ।

(६)

चौपाई— तातैं ऐसे पंथ न जावै, संजत जो समाधि मन लावै ।
और पंथ जौलों वह पावै, जतनवंत वाही मग जावै ॥

अर्थ— इसलिए दूसरे मार्ग के होते हुए सुसमाहित (सावधान) संयमी साधु उक्त मार्ग से नहीं जावे । यदि कदाचित् दूसरा अच्छा मार्ग न हो तो उस मार्ग से मुनि यतनापूर्वक जावे ।

(७)

सोरठा— छार - ढेर तुस - ढेर, गोबर और जु कोयला ।
रज-साने पग फेर, इनको लंघन नहिं करै ॥

अर्थ— संयमी मुनि सचित्त रज से भरे हुए पैरों से कोयले, राख, भूसे और गोबर के ढेर को लांघ कर न जावे ।

(८)

दोहा— बरखा बरसत नहिं चलै, कुहरा परतहु नाहि ।
महावात के बाजते, परत पतंग न जाहि ॥

अर्थ— वर्षा बरस रही हो, कुहरा गिर रहा हो, महावायु चल रही हो और मार्ग में पतंगिया आदि अनेक प्रकार के जीव इधर-उधर उड़ रहे हों तो ऐसे समय में साधु गोचरी के लिए न जावे ।

(९)

मूलं— न चरेज्ज वेससामंते बंभचेरवसाणुए ।
बंभयारिस्स दंतस्स होज्जा तत्थ विसोत्तिया ।।

संस्कृत— न चरेद् वेशसामन्ते ब्रह्मचर्यवशानुगः ।
ब्रह्मचारिणो दान्तस्य भवेत्तत्र विस्रोतसिका ।।

(१०)

मूल— अणायणे चरंतस्स संसग्गीए अभिक्खणं ।
होज्ज वयाणं पीला सामण्णम्मि य संसओ ।।

संस्कृत— अनायतने चरतः संसर्गेणाभीक्ष्णम् ।
भवेद् व्रतानां पीडा श्रामण्ये च संशयः ।।

(११)

मूल— तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
वज्जए वेससामंतं मुणी एगंतमस्सिए ।।

संस्कृत— तस्मादेतद्विज्ञाय दोषं दुर्गतिवर्धनम् ।
वर्जयेद् वेशसामन्तं मुनिरेकान्तमाश्रितः ।।

(१२)

मूल— साणं सूइयं गाविं दित्तं गोणं हयं गयं ।
संडिब्भं कलहं जुद्धं दूरओ परिवज्जए ।।

संस्कृत— श्वानं सूतिकां गां दृप्तं गां हयं गजम् ।
संडिब्भं कलहं युद्धं दूरतः परिवर्जयेत् ।।

(१३)

मूल— अणुन्नए नावणए अप्पहिट्ठे अणाउले ।
इंदियाणि जहाभागं दमइत्ता मुणी चरे ।।

संस्कृत— अनुन्नतो नावनतः अप्रहृष्टोऽनाकुलः ।
इन्द्रियाणि यथाभागं दमयित्वा मुनिश्चरेत् ।।

(९)

चौपाई— **ब्रह्मचर्य के धारनहारे, वेश्या के पड़ौस कों टारे ।**
दान्त ब्रह्मचारी मन मांही, वा थल विकृत चित्त ह्वै जाही ॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ब्रह्मचारी साधु वेश्याओं के मुहल्ले में गोचरी को न जावे । क्योंकि वहां जानेवाले दान्त (इन्द्रिय-जयी) साधु के भी विस्रोतसिका हो सकती है, अर्थात् चित्त चंचल हो सकता है ।

(१०)

चौपाई— **वेश्यादिक के थान अजोगा, छिन छिन भये तासु संजोगा ।**
व्रतनि मांहि पीड़ा उपजाहीं, ह्वै संदेह स्रमनता-मांही ॥

अर्थ—अनायतन (अयोग्य स्थान) में विचरण करने वाले साधु के (वेश्याओं को मुहल्ले में बार-बार आने-जाने से) उनके संसर्ग होने के कारण व्रतों की पीड़ा (विनाश) और श्रमणपने में संशय हो सकता है ।

(११)

दोहा—तातें याकों जानि के, दुरगति-बाढ़न दोस ।
मुनि इकंत-धारी तजै पातर - पंथ - परोस ॥

अर्थ—इसलिए इसे दुर्गति बढ़ाने वाला दोष जानकर एकान्त (मोक्षमार्ग) का अभिलाषी मुनि वेश्याओं के मोहल्ले में गोचरी के लिए न जावे, किन्तु उधर जाने का परित्याग करे ।

(१२)

दोहा- मत्त बलद, सिसु-खेल-थल, सुरभि प्रसूता स्वान ।
हय गय कलह रु समर के, तजिय दूरतें थान ॥

अर्थ—जहाँ कुत्ता हो, नव-प्रसूता (थोड़े समय की व्याई हुई) गाय हो, उन्मत्त बैल हो, मदोन्मत हाथी और घोड़ा हो, जहां बच्चे खेल रहे हों, जहां पर कलह और युद्ध हो रहा हो, ऐसे स्थानों को दूर से ही परित्याग करें ।

(१३)

दोहा—नहिं हरसित, नहिं आकुलित, नत उन्नत हुइ नाहिं ।
जथाभाग इंद्रियनि दमि, मुनि विचरै मग-मांहि ॥

अर्थ—मुनि न उन्नत होकर (ऊँचा मुख कर), न अवनत होकर (बहुत झुक कर), न हर्षित होकर और न व्याकुल होकर यथायोग्य इन्द्रियों का दमन कर चले ।

(१४)

मूल— **दवदवस्स न गच्छेज्जा भासमाणो य गोयरे ।**
हसंतो नाभिगच्छेज्जा कुलं उच्चावयं सया ॥

संस्कृत— द्रवं द्रवं न गच्छेत् भाषमाणश्च गोचरे ।
हसन् नाभिगच्छेत् कुलमुच्चावचं सदा ॥

(१५)

मूल— **आलोयं थिग्गलं दारं संधिं दगभवणाणि य ।**
चरंतो ण विणिज्झाए संकट्ठाणं विवज्जए ॥

संस्कृत— आलोकं थिग्गलं द्वारं सन्धिं दकभवनानि च ।
चरन् न विनिध्यायेत् शङ्कास्थानं विवर्जयेत् ॥

(१६)

मूल— **रण्णो गिहवईणं च रहस्सारक्खियाण य ।**
संकिलेसकरं ठाणं दूरओ परिवज्जए ॥

संस्कृत— राज्ञो गृहपतीनां च रहस्यारक्षिकाणाञ्च ।
संक्लेशकरं स्थानं दूरतः परिवर्जयेत् ॥

(१७)

मूल— **पडिकुट्ठं कुलं न पविसे मामगं परिवज्जए ।**
अचियत्तं कुलं न पविसे चियत्तं पविसे कुलं ॥

संस्कृत— प्रतिक्रुष्टं कुलं न प्रविशेत् मामकं परिवर्जयेत् ।
अचियत्तं कुलं न प्रविशेत् चियत्तं प्रविशेत् कुलम् ॥

(१८)

मूल— **साणीपावारपिहियं अप्पणा नावपंगुरे ।**
कवाडं नो पणोल्लेज्जा ओग्गहंसि अजाइया ॥

संस्कृत— शाणी - प्रावार - पिहितं आत्मना नापवृणुयात् ।
कपाटं न प्रणोदयेत् अवग्रहे अयाचित्वा ॥

(१४)

दोहा—गोचरि झट झट नहिं चले, बोलत हँसत न जाहिं ।
सदा कहूं जावै नहीं, ऊंच-नीच कुल माहिं ॥

अर्थ—गोचरी के समय साधु दड़बड़ करता—दौड़ता हुआ न जावे । हंसता हुआ और बोलता हुआ भी न जावे । किन्तु सदा ऊंच-नीच ग्राह्य कुल में ईर्यासमिति पूर्वक गोचरी के लिए जावे ।

(१५)

दोहा—भीत, झरोखा, द्वार पुनि, संधि नीर-घर जान ।
इनहिं न जोवै चालतो, त्यागै शंका-थान ॥

अर्थ—भिक्षा के लिए घूमता हुआ साधु आलोक (जाली-झरोखे), थिग्गल (दीवाल के छेद) द्वार, सन्धि (भीतों का जोड़ अथवा चोरों के द्वारा किये गये भीत के छेद) और जल-भवन (पानी रखने का स्थान) को टकटकी लगाकर न देखे और इन जैसे सभी शंका के स्थानों के देखने का परित्याग करे ।

(१६)

दोहा—भूप-भवन, गृहपति-भवन, रक्षक रहस जु आहिं ।
दुख-दायक जो थान सो तजै दूरतें ताहि ॥

गोचरी के लिए जाता हुआ मुनि राजा का महल, गृहपतियों के भवन, कोटपाल आदि आरक्षकों के निवास और रहस्य (गुप्त) स्थान का दूर से ही परित्याग करे ।

(१७)

चौपाई— कुल निषिद्ध में धसिए नाहीं, जिहिं बरज्यो ह्वै तजिए ताहीं ।
नेह-रहित कुल प्रविसिय नाहीं, प्रविसिय प्रीतिवंत कुल-माहीं ॥

अर्थ—मुनि प्रतिकृष्ट (शास्त्र-निषिद्ध) कुल में प्रवेश न करे, मामक (गृहस्वामी द्वारा मना किये) घर में न जावे, प्रीति और प्रतीति रहित कुल में भी प्रवेश न करे । किन्तु प्रीति और प्रतीति वाले कुल में ही गोचरी के लिए प्रवेश करे ।

(१८)

दोहा—सन-पट या चिकतें ढक्यौ, नहीं उघारै द्वार ।
विनु आयसु के आप ही, खोले नहीं किवार ॥

अर्थ—मुनि गृहस्वामी की आज्ञा के बिना सन-पाट से या चिक आदि से ढके द्वार को न उघाड़े और न किवाड़ों को खोले ।

(१६)

मूल— गोयरग्गपविट्ठो उ वच्चमुत्तं न धारए ।
ओगासं फासुयं नच्चा अणुन्नविय वोसिरे ॥

संस्कृत— गोचराग्रप्रविष्टस्तु वर्चोमूत्रं न धारयेत् ।
अवकाशं प्रासुकं ज्ञात्वा अनुज्ञाप्य व्युत्सृजेत् ॥

(२०)

मूल— नीयदुवारं तमसं कोट्ठगं परिवज्जए ।
अचक्खुविसओ जत्थ पाणा दुप्पडिलेहगा ॥

संस्कृत— नीचद्वारं तमो (मयं) कोष्ठकं परिवर्जयेत् ।
अचक्षुर्विषयो यत्र प्राणाः दुष्प्रतिलेख्यकाः ॥

(२१)

मूल— जत्थ पुप्फाइं बीयाइं विप्पइण्णाइं कोट्ठए ।
अहुणोवलित्तं उल्लं दट्ठूण परिवज्जए ॥

संस्कृत— यत्र पुष्पाणि बीजानि विप्रकीर्णानि कोष्ठके ।
अधुनोपलिप्तमार्द्रं दृष्ट्वा परिवर्जयेत् ॥

(२२)

मूल— एलगं दारगं साणं वच्छगं वावि कोट्ठए ।
उल्लंघिया न पविसे विऊहित्ताण व संजए ॥

संस्कृत— एडकं दारकं श्वानं वत्सकं वापि कोष्ठके ।
उल्लंघ्य न प्रविशेत् व्यूह्य वा संयतः ॥

(२३)

मूल— असंसत्तं पलोएज्जा नाइदूरावलोयए ।
उप्फुल्लं न विणिज्झाए नियट्टेज्ज अयंपिरो ॥

संस्कृत— असंसक्तं प्रलोकेत नातिदूरमवलोकेत ।
उत्फुल्लं न विनिध्यायेत् निवर्तेताजल्पिता ॥

(१९)

दोहा—बाधा ले मल-मूत्र की, गोचरि काज न जाय ।
उपजै, लखि निरदोस थल, तजै सु आयसु पाय ॥

अर्थ—गोचरी के लिए गया हुआ साधु मल-मूत्र की बाधा न रखे। (मल-मूत्र की बाधा से रहित होकर के गोचरी के लिए जावे। फिर भी यदि कदाचित् मल-मूत्र की बाधा आ जाय तो) प्रासुक स्थान को देख, उसके स्वामी की अनुमति लेकर वहां मल-मूत्र का त्याग करे।

(२०)

दोहा—लघु दुवार कोठा तजै, अंधकार जहं छाय ।
कठिन प्रानि को पेखनो, जहां दीठि नांहिं जाय ॥

अर्थ—जहां चक्षु का विषय न होने के कारण प्राणी भली भांति देखे न जा सकें, ऐसे बहुत नीचे लघु द्वार वाले अन्धकार पूर्ण कोठे में जाकर गोचरी लेने का त्याग करे।

(२१)

दोहा—जा कोठे में कुसुम अरु, बीज बीखरे होंय ।
गीलो, अब ही को लिप्यो, देखि छाँडिये सोय ॥

अर्थ—जिस कोठे में या कोठे के द्वार पर पुष्प-बीज आदि विखरे हुए हों, उसे तथा तत्काल के लिये हुए गीले मकान को देखकर मुनि वहां जाने का त्याग करे।

(२२)

दोहा—अज बालक बछरा सुनी, रहे जु कोठे बैठ ।
तिनहिं लंघि वा दूर करि, संजति तहां न पैठ ॥

अर्थ—जिस कोठे के द्वार पर भेड़-बकरी, बालक, कुत्ता, बछड़ा हो, अथवा इसी प्रकार का कोई दूसरा जानवर हो तो उन्हें उल्लंघन करके या हटाकर साधु घर में प्रवेश न करे।

(२३)

दोहा—लखै नहीं अति लीन ह्वै, तकै दूरतें नाहि ।
खिले दृगनि देखै न कछु, अरु[1] अदीन निकसाहि ॥

---

[1] पाठान्तर—'विन देखे निकसाहि'।

(२४)

मूल— अइभूमिं न गच्छेज्जा गोयरग्गगओ मुणी ।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता मियं भूमिं परक्कमे ॥

संस्कृत— अतिभूमिं न गच्छेत् गोचराग्रगतो मुनिः ।
कुलस्य भूमिं ज्ञात्वा मितां भूमिं पराक्रमेत् ॥

(२५)

मूल— तत्थेव पडिलेहेज्जा भूमिभागं वियक्खणो ।
सिणाणस्स य वच्चस्स संलोगं परिवज्जए ॥

संस्कृत— तत्रैव प्रतिलिखेत् भूमिभागं विचक्षणः ।
स्नानस्य च वर्चसः संलोकं परिवर्जयेत् ॥

(२६)

मूल— दगमट्टियआयाणं बीयाणि हरियाणि य ।
परिवज्जंतो चिट्ठेजा सव्विंदियसमाहिए ॥

संस्कृत— दक-मृत्तिकाऽऽदानं बीजानि हरितानि च ।
परिवर्जयंस्तिष्ठेत् सर्वेन्द्रियसमाहितः ॥

(२७)

मूल— तत्थ से चिट्ठमाणस्स आहरे पाण-भोयणं ।
अकप्पियं न इच्छेज्जा पडिगाहेज्ज कप्पियं ॥

संस्कृत— तत्र तस्य तिष्ठतः आहरेत् पाण-भोजनम् ।
अकल्पिकं न इच्छेत् प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकम् ॥

अर्थ—गोचरी के लिए गया साधु किसी की ओर आसक्ति-पूर्वक न देखे, घर के भीतर दूर तक लम्बी नजर डालकर भी न देखे तथा आंखें फाड़-फाड़कर—टक-टकी लगाकर नहीं देखे। यदि वहां भिक्षा न मिले तो कुछ भी नहीं बोलता हुआ, दीनता न दिखलाता हुआ वहां से वापिस लौट आवे।

(२४)

दोहा—गोचरि-कारन मुनि गयो, अतिभूमहिं नहिं जाहि।
कुल-भूमिहि पहिचानि के, मित भूमिहि अवगाहि॥

अर्थ—गोचरी के लिए गया हुआ मुनि अतिभूमि में अर्थात् गृहस्थ की मर्यादित भूमि से आगे उसकी आज्ञा के बिना न जावे। किन्तु कुल की भूमि को जानकर जिस कुल का जैसा आचार हो, वहां तक की परिमित भूमि में ही जावे।

(२५)

दोहा—प्रतिलेखन तित ही करै, भूमि-भाग पटु होइ।
न्हान-भवन वरचसहु कों, नहिं अवलोकै सोइ॥

अर्थ—विचक्षण (देश-काल और शास्त्र-मर्यादा का ज्ञाता) मुनि उस सीमित या मर्यादित भूमि में ही भू-भाग का प्रतिलेखन करे अर्थात् उस भूमि को पूंज कर खड़ा रहे। जहाँ से स्नान और शौच का स्थान दिखाई पड़े, उसका त्याग करे।

(२६)

दोहा—जल मृतिका को आगमन, बीज हरित को छोर।
साधो सब इन्द्रियनि जिन, मुनि ठहरै तहिं ठोर॥

अर्थ—सब इन्द्रियों को वश में रखता हुआ समाधिवन्त मुनि सचित्त जल और सचित्त मिट्टी-युक्त स्थान को, बीजों को और हरियाली को छोड़कर खड़ा रहे।

(२७)

दोहा—ता थल पै ठहरयो मुनी, गहै जु भोजन-पान।
नहिं अजोग कों संग्रहै, गहै जोग निज जान॥

अर्थ—वहाँ खड़े हुए मुनि के लिए कोई भोजन-पान देवे तो अकल्पनीय को ग्रहण न करे, किन्तु कल्पनीय (ग्रहण करने के योग्य) को ही ग्रहण करे।

(२८)

मूल— आहरंती सिया तत्थ परिसाडेज्ज भोयणं ।
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

संस्कृत— आहरन्ती स्यात्तत्र परिशाटयेद् भोजनम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥

(२९)

मूल— सम्मद्दमाणी पाणाणि बीयाणि हरियाणि य ।
असंजमकरिं नच्चा तारिसं परिवज्जए ॥

संस्कृत— सम्मर्दयन्ती प्राणान् बीजानि हरितानि च ।
असंयमकारीं ज्ञात्वा तादृशं परिवर्जयेत् ॥

(३०—३१)

मूल— साहट्टु निक्खवित्ताणं सच्चित्तं घट्टियाण य ,
तहेव समणट्ठाए उदगं संपणोलिया ॥
आगाहइत्ता चलइत्ता आहरे पाण-भोयणं ।
देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥

संस्कृत— संहृत्य निक्षिप्य सचित्तं घट्टयित्वा च ।
तथैव श्रमणार्थं उदकं संप्रणुद्य ॥
अवगाह्य चालयित्वा आहरेत् पान-भोजनम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥

(३२)

मूल— पुरकम्मेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा ।
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

संस्कृत— पुरःकर्मणा हस्तेन दर्व्या भाजनेन वा ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥

(२८)

दोहा—तित इत उतकों डारती, परसं भोजन जोइ ।
देनहारि सों यों कहै, ऐसो[1] चहिय न मोइ ॥

अर्थ—साधु के लिए आहार-पानी देती हुई स्त्री यदि कदाचित् आहार-पानी को भूमि पर गिरावे तो मुनि उस देने वाली से कहे कि इस प्रकार का आहार-पानी मेरे लिए नहीं कल्पता है, अर्थात् मेरे ग्रहण करने के योग्य नहीं है।

(२९)

दोहा—बीज हरित प्रानीनि कों मरदन करती होइ ।
जानि असंजम-कारिनी, देति तजै मुनि सोय ॥

अर्थ—यदि प्राणियों को, बीजों को और हरियाली को कुचलती-रौंदती हुई स्त्री आहार-पानी को देवे तो साधु उसे असंजम-कारिणी जानकर उससे आहार-पानी नहीं लेवे।

(३०—३१)

चौपाई— ऐसेइ मुनि-हित सचित मिलाई, वा सचित्त पर अचित्त रखाई ।
पोसि हिलाय नीर-अवगाही, भोजन-पान जु देय चलाई ॥
देनहारि-सों मुनि कह ऐसो, मोको नहिं कल्पत है तैसो ।
'सो मैं यह आहार न लेऊं, कल्पै जो, ताही को सेऊं ॥'

अर्थ— एक वर्तन में से दूसरे बर्तन में निकाल कर, सचित्त वस्तु को अचित्त वस्तु के साथ मिलाकर, या सचित्त पत्रादि के ऊपर रखकर, सचित्त को हिलाकर, घड़े आदि से भरे जल को हिलाकर, पानी में से चलकर, आंगन आदि में ढुले हुए जल को निकाल कर साधु के लिए आहार-पानी देवे तो उस देने वाली से कहे कि ऐसा आहार-पानी मेरे लिए नहीं कल्पता है।

(३२)

सोरठा— पहिले किये सदोस, हाथ कुरछि भाजन तथा ।
कहै जु रही परोसि, ऐसो कल्पत मोहि नहिं ॥

अर्थ—पुराकर्म-कृत[2] हाथ से, करछी से या वर्तन से भिक्षा देने वाली स्त्री से कहे कि ऐसा आहार मेरे लिए नहीं कल्पता है।

---

१ पाठान्तर—'यह कल्पै नहिं मोइ'।

२ साधु को भिक्षा देने के लिए पहिले सचित्त जल से हाथ-कलछी आदि का धोना या अन्य इसी प्रकार का आरम्भ करना पुराकृत-कर्म कहलाता है।

(३३—३४)

मूल— एवं उदओल्ले ससिणिद्धं ससरक्खे मट्टिया ऊसे ।
हरियाले हिंगुलए मणोसिला अंजणे लोणे ॥
गेरुय वण्णिय सेडिय सोरट्ठिय पिट्ठकुक्कुस कए य ।
उक्कट्ठमसंसट्ठे संसट्ठे चेव बोधव्वे ॥

संस्कृत— एवमुदकार्द्रः सस्निग्धः ससरक्षो मृत्तिका ऊषः ।
हरितालं हिंगुलिकं मनःशिला अञ्जनं लवणम् ॥
गैरिकं वर्णिका-सेटिका-सौराष्ट्रिका-पिष्टं कुक्कुसकृतश्च ।
उत्कृष्टमसंसृष्टः संसृष्टश्चैव बोद्धव्यः ॥

(३५)

मूल— असंसट्ठेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा पच्छाकम्मं जहिं भवे ॥

संस्कृत— असंसृष्टेन हस्तेन दर्व्या भाजनेन वा ।
दीयमानं नेच्छेत् पश्चात्कर्म यत्र भवेत् ॥

(३६)

मूल— संसट्ठेण य हत्थेण दव्वीए भायणेण वा ।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा जं तत्थेसणियं भवे ॥

संस्कृत— संसृष्टेन च हस्तेन दर्व्या भाजनेन वा ।
दीयमानं प्रतीच्छेत् यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥

(३७)

मूल— दोण्हं तु भुंजमाणाणं एगो तत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा छंदं से पडिलेहए ॥

संस्कृत— द्वयोस्तु भुञ्जानयोरेकस्तत्र निमन्त्रयेत् ।
दीयमानं न इच्छेत् छन्दं तस्य प्रतिलेखयेत् ॥

(३३—३४)

छप्पय— जल भीने अरु चीकने, सचित्त रज-भरे होय कर,
मिट्टि खार हरताल, लवन हिंगुल मनसिल-भर ।
अंजन फिटकरि गेरु चून भूसीसों साने,
सेत पीत मृत्तिका लगी कर सों जो जानै ।।
फल-खंड हाथ व्यंजन लिए, व्यंजन अलिपित जो रहै,
या विधि लखि दोस निवारिकैं, मुनि अदोस अन-जल गहै ।।

अर्थ· इसी प्रकार जल से आर्द्र हाथ से, स्निग्ध हाथ से, तथा सचित्त रज-कण, मृत्तिका, क्षार, हरिताल, हिंगुल, मैनसिल, अंजन, नमक, गेरु, पीली मिट्टी, सफेद मिट्टी, फिटकरी, तत्काल पीसा हुआ आटा, तत्काल कूटी हुई धान, उसके भूसे या छिलके और फल के छोटे टुकड़ों या हरे पत्तों के रस से सने हुए कलछी और बर्तन से भिक्षा देनेवाली स्त्री से कहे कि इस प्रकार आहार-पान मेरे लिए नहीं कल्पता है ।

(३५)

दोहा—असंसृष्ट कर कुरछि-सों, भाजन सों जो देतु ।
ताहि न चाहै होत जो, पच्छाकरम को हेतु ।।

अर्थ—जहां पश्चात्-कर्म का प्रसंग हो, वहां असंसृष्ट (भक्त-पान से अलिप्त) हाथ, कलछी और बर्तन से दिया जाने वाला आहार मुनि न लेवे । (जिस वस्तु का हाथ आदि पर लेप लगने पर उसे पीछे धोना पड़े, उसे पश्चात्कर्म दोप कहते हैं ।)

(३६)

दोहा संसृष्टे कर कुरछि अरु, भाजन सों जो देय ।
होय तहां निरदोस तो ग्रहन करैं मुनि सोय ।।

अर्थ—संसृष्ट-भक्त-पान से लिप्त हाथ, कलछी और बर्तन से दिया जाने वाला आहार यदि एषणीय हो तो मुनि ले लेवे ।

(३७)

चौपाई— दो जन भोजन करते होंय, एक बुलावे मुनि को जोय ।।
जो दूजे का भाव न होय, मुनि तसु असन गहै नहिं कोय ।

अर्थ—जिस घर में दो व्यक्ति भोजन कर रहे हों. उनमें से यदि एक व्यक्ति निमंत्रण करे अर्थात् आहार लेने के लिए प्रार्थना करे (परन्तु दूसरा चुप रहे) तो मुनि वहां आहार न ले । दूसरे के अभिप्राय को देखे, यदि उसे साधु को देना अप्रिय लग रहा हो तो न ले और प्रिय लगता प्रतीत हो तो ले ले ।

(३८)

मूल— दोण्हं तु भुंजमाणाणं दो वि तत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा जं तत्थेसणियं भवे ॥

संस्कृत— द्वयोस्तु भुञ्जानयोः द्वावपि - तत्र निमन्त्रयेयाताम् ।
दीयमानं प्रतीच्छेत् यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥

(३९)

मूल— गुव्विणीए उवन्नत्थं विविहं पाण-भोयणं ।
भुज्जमाणं विवज्जेज्जा भुत्तसेसं पडिच्छए ॥

संस्कृत— गुर्विण्या उपन्यस्तं विविधं पान-भोजनम् ।
भुज्यमानं विवर्जयेत् भुक्तशेषं प्रतीच्छेत् ॥

(४०—४१)

मूल— सिया य समणट्ठाए गुव्विणी कालमासिणी ।
उट्ठिया वा निसीएज्जा निसन्ना वा पुणुट्ठए ॥
तं भवे भत्त-पाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
दंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

संस्कृत— स्याच्च श्रमणार्थं गुर्विणी कालमासिनी ।
उत्थिता वा निषीदेत निषण्णा वा पुनरुत्तिष्ठेत् ।
तद् भवेद् भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥

(४२—४३)

मूल— थणगं पिज्जेमाणी दारगं वा कुमारियं ।
तं निक्खिवित्तु रोयंतं आहरे पाण-भोयणं ॥
तं भवे भत्त-पाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

(३८)

दोहा—खावन हारे दोय जो, ताहि निमंत्रन देय ।
जो तहँ होय अदोस तो, सो दोनों मुनि लेय ॥

अर्थ—उस घर में भोजन करने वाले दोनों ही व्यक्ति यदि निमंत्रित करें तो मुनि उस दिये जाने वाले आहार को—यदि एषणीय हो तो ले ले ।

(३९)

दोहा—गरभवती निज-हित रचे बहुविध भोजन-पान ।
तिनहिं तजे, भोगे बचै तिनहिं गहै मुनि जान ॥

अर्थ—गर्भिणी स्त्री द्वारा स्व-निमित्त बनाया हुआ विविध प्रकार का अशन-पान वह खा रही हो तो मुनि उसके लेने का त्याग करे। हां, खाने के बाद यदि अनुच्छिष्ट-बच जाय तो ले लेवे।

(४०—४१)

चौपाई— पूरे मासनि गरभिन कोई, बैठे उठै साधु-हित सोई ।
अथवा बहुरि खरी सो होई, संजति-जोग न अन-जल सोई ।
या प्रकार देतिहि कह सोई, ऐसो नहिं कलपत है मोई ।
सो मैं यह आहार न लेऊं, कल्पै जो ताही को सेऊं ॥

अर्थ—कालमासवती (पूरे दिन वाली) गर्भिणी स्त्री खड़ी हो और श्रमण को भिक्षा देने के लिए कदाचित् बैठे, अथवा बैठी हो और खड़ी हो जाये तो उसके द्वारा दिया जाने वाला भक्त-पान संयमी जनों के लिए अकल्पनीय है। इसलिए मुनि देने-वाली उस गर्भिणी से कहे कि यह अशन-पान मेरे लिए नहीं कल्पता है।

(४२—४३)

चौपाई— बालक बालिकाहिं पय पावति, रोवति तिनहिं डारि जो आवति ।
देने लगै जल-भोजन जोई, मुनिकों नहिं कलपत है सोई ॥
देनहारि-सों कह मुनि सोई, ऐसो नहिं कलपत है मोई ।
सो मैं यह आहार न लेऊं, कल्पै जो ताही को सेऊं ॥

अर्थ—बालक या बालिका को स्तन-पान कराती हुई स्त्री उसे रोते हुए छोड़कर नीचे रखकर भोजन-पान लावे और देने लगे तो वह भोजन-पान संयतों के

संस्कृत— स्तनकं पावयन्ती दारकं वा कुमारिकाम् ।
तं (तां) निक्षिप्य रुदन्तं आहरेत् पान-भोजनम् ॥
तद् भवेद् भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥

(४४)

मूल— **जं भवे भत्त-पाणं तु कप्पाकप्पम्मि संकियं ।**
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

संस्कृत— यद् भवेद् भक्तपानं तु कल्प्याकल्प्ये शङ्कितम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥

(४५—४६)

मूल— **दगवारएण पिहियं नीसाए पीढएण वा ।**
लोढेण वा वि लेवेण सिलेसेण व केणइ ॥
तं च उब्भिंदिया देज्जा समणट्ठाए व दावए ।
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

संस्कृत— 'दगवारएण' पिहितं 'नीसाए' पीठकेन वा ।
'लोढेण' वापि लेपेन श्लेषेण वा केनचित् ॥
तच्चोद्भिद्य दद्यात् श्रमणार्थं वा दायकः ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥

(४७—४८)

मूल— **असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।**
जं जाणेज्जा सुणेज्जा वा दाणट्ठा पगडं इमं ॥
तं भवे भत्त-पाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

संस्कृत— अशनं पानकं वापि खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा दानार्थं प्रकृतमिदम् ॥
तद् भवेद् भक्त-पानं तु संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥

लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि उरा देने वाली स्त्री से कहे कि ऐसा आहार-पान मुझे नहीं कल्पता है।

(४४)

चौपाई— कल्प्य-अकल्पनीय वा होई, यों संकित जल-भोजन जोई।
देनहारि-सों मुनि कह सोई, ऐसो नहिं कलपत है मोई॥

अर्थ—जो भक्त-पान कल्प और अकल्प की दृष्टि से शंका-युक्त हो, उसको देने वाली स्त्री से कहे—ऐसा आहार-पान मेरे लिए नहीं कल्पता है।

(४५—४६)

चौपाई— जल-घट पाहन पेसनि ढाका, लोढा लेप लाख करि ढाका।
पीढा तथा और कछु होइ, ढकित उघारि साधु-हित सोई॥
देनहारि-सों कह मुनि सोई, ऐसो नहीं कल्पत है मोई।
सो मैं यह आहार न लेऊं, कल्पं जो ताही कूं सेऊं॥

अर्थ—जल-कुम्भ, चक्की, पीठ, लोढा, मिट्टी का लेप और लाख आदि श्लेप द्रव्यों से पिहित (ढंके, लिपे और मूंदे हुए) पात्र का श्रमण के लिए मुंह खोल-कर यदि कोई स्त्री आहार देवे या किसी से दिलावे तो उस देने वाली स्त्री से साधु कहे कि ऐसा आहार मेरे लिए नहीं कल्पता है। भावार्थ—साधु के देने के लिए उस समय किये गये उक्त कार्य दोषकारक हैं।

(४७—४८)

चौपाई— खाद्य स्वाद्य भोजन अरु पाना, दाना हेतु-कृत, सुना कि जाना।
ऐसो भोजन पान जु आही, सो संजति कों कलपत नाहीं॥
देनहारि सों कहि मुनि सोई, ऐसो नहिं कलपत है मोई।
सो मैं यह आहार न लेऊं, कल्पं जो ताही कूं सेऊं॥

अर्थ—'यह अशन, पानक (पेय वस्तु), खाद्य और स्वाद्य पदार्थ दानार्थ तैयार किया हुआ है। यह मुनि जान लेवे, तो वह भक्तपान संयतों के लिए कल्पनीय नहीं है, इसलिए उस देनेवाली स्त्री से मुनि कहे कि ऐसा आहार मेरे लिए नहीं कल्पता है।

(४९—५०)

मूल— असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा पुण्णट्ठा पगडं इमं ॥
तं भवे भत्त-पाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
दितियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

संस्कृत— अशनं पानकं वापि खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा पुण्यार्थं प्रकृतमिदम् ॥
तद् भवेद् भक्त-पानं तु संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥

(५१—५२)

मूल— असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणेज्जा सुणेज्जा वा वणिमट्ठा पगडं इमं ॥
तं भवे भत्त-पाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

संस्कृत— अशनं पानकं वापि खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा वनीपकार्थं प्रकृतमिदम् ॥
तद् भवेद् भक्त-पानं तु संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥

(५३—५४)

मूल— असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणेज्जा सुणेज्जा वा समणट्ठा पगडं इमं ॥
तं भवे भत्त-पाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

संस्कृत— अशनं पानकं वापि खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा श्रमणार्थं प्रकृतमिदम् ॥
तद् भवेद् भक्त-पानं तु संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥

(४९—५०)

चौपाई — **खाद्य स्वाद्य भोजन अरु पाना, पुण्य-हेतु-कृत सुना कि जाना ।**
ऐसो भोजन पान जु आही, सो संजति को कलपत नाहीं ।।
देनहारि-सों कह मुनि सोई, ऐसो नहिं कलपत है मोई ।
सो मैं यह आहार न लेऊं, कल्पं जो ताही कूं सेऊं ।।

अर्थ—यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य पदार्थ पुण्यार्थ तैयार किया हुआ है, यह बात मुनि जान लेवे या सुन लेवे तो वह भक्त-पान संयतों के लिए अकल्पनीय है। इसलिए मुनि देने वाली स्त्री से कहे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए नहीं कल्पता है।

(५१—५२)

चौपाई— **खाद्य स्वाद्य भोजन अरु पाना, जाचक-हित-कृत सुना कि जाना ।**
ऐसो भोजन-पान जु आही, सो संजति को कलपत नाहीं ।।
देनहारि-सों मुनि कह सोई, ऐसो नहिं कलपत है मोई ।
सो मैं यह आहार न लेऊं, कल्पै जो ताही कूं सेऊं ।।

अर्थ—यह अशन पानक, खाद्य और स्वाद्य पदार्थ वनीपकों (भिखारियों) के लिए तैयार किया हुआ है, यह बात मुनि जान ले या सुन लेवे तो वह भक्त-पान संयतों के लिए अकल्पनीय है। इसलिए मुनि उसे देने वाली स्त्री से कहे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए नहीं कल्पता है।

(५३—५४)

चौपाई— **खाद्य स्वाद्य भोजन अरु पाना, श्रमण-हेतु-कृत सुना कि जाना ।**
ऐसो भोजन-पान जु आही, सो संजत को कलपत नाहीं ।।
देनहारि-सों मुनि कह सोई, ऐसो नहिं कलपत है मोई ।
सो मैं यह आहार न लेऊं, जो कल्पै ताही कूं सेऊं ।।

अर्थ—यह अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य पदार्थ श्रमणों के लिए तैयार किया हुआ है, यह बात मुनि जान ले या सुन लेवे तो वह भक्त-पान संयतों के लिए अकल्पनीय है। इसलिए मुनि उसे देने वाली स्त्री से कहे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए नहीं कल्पता है।

(५५—५६)

मूल— उद्देसियं कीयगडं पूईकम्मं च आहडं ।
अज्झोयर पामिच्चं मीसजायं च वज्जए ॥
उग्गमं से पुच्छेज्जा कस्सट्ठा केण वा कडं ।
सोच्चा निस्संकियं सुद्धं पडिगाहेज्जा संजए ॥

संस्कृत— औद्देशिकं क्रीतकृतं पूतिकर्म चाहृतम् ।
अध्यवतर प्रामित्यं मिश्रजातं च वर्जयेत् ॥
उद्गमं तस्य पृच्छेत् कस्यार्थं केन वा कृतम् ।
श्रुत्वा निःशङ्कितं शुद्धं प्रतिगृह्णीयात् संयतः ॥

(५७—५८)

मूल— असणं पाणगं वावि खाइमं साइमं तहा ।
पुप्फेसु होज्ज उम्मीसं बीएसु हरिएसु वा ॥
तं भवे भत्त-पाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

संस्कृत— अशनं पानकं वापि खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
पुष्पैर्भवेदुन्मिश्रं बीजैर्हरितैर्वा ॥
तद् भवेद् भक्त-पानं तु संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥

(५९—६०)

मूल— असण पाणगं वावि खाइमं साइमं तहा ।
उदगम्मि होज्ज निक्खित्तं उत्तिगपणगेसु वा ॥
तं भवे भत्त-पाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

(५५—५६)

चौपाई— मुनि-निमित्त जो होय बनायो, अथवा देके दाम मंगायो ।
अधकरमी अदोस में सान्यो, ग्रामादिक तें मुनि-हित आन्यो ।।
मुनि-सुधि आये और मिलायो, दीन निबल तें छीन जु पायो ।
निज-हित, मुनि-हित मेलि बनायो, यों सन्देह जु मुनि-मन आयो ।।
तो मुनि पूछे उद्गम ताको, काके काज, कियो किहि याको ।
संका-हीन सुनै जो ताही, ग्रहै साधु, नाहीं तो नाहीं ।।

अर्थ—औद्देशिक (साधु के उद्देश्य से बनाया गया), क्रीतकृत (दाम देकर खरीदा गया), पूतिकर्म (आधाकर्म—मिश्रित आहार), आहृत (पर घर या ग्रामान्तर से लाया गया), अध्यवतर (अपने लिए आहार बनाते समय साधु की याद आने पर उसमें और अधिक बनाया गया) प्रामित्य (दूसरों से उधार लिया गया आहार), मिश्रजात (अपने लिए बनाये जा रहे आहार में साधु के लिए और अधिक चावल आदि मिलाना) आहार साधु के लिए त्याज्य है। साधु दाता से आहार का उद्गम पूछे कि यह किसलिए बनाया है, किसने बनाया है ? दाता का उत्तर सुनकर यदि शंका दूर हो जाय और आहार शुद्ध ज्ञात हो तो साधु उसे ग्रहण करे, अन्यथा नहीं।

(५७—५८)

चौपाई— खाद्य स्वाद्य भोजन अरु पाना, सुमन बीज हरितनि सों साना ।
ऐसो भोजन पान जु आही, संजति कों कलपत सो नाहीं ।।
देनहारि-सों मुनि कह सोई, ऐसो नहिं कलपत है मोई ।
सो मैं यह आहार न लेऊं, जो कल्पै ताही कूं सेऊं ।।

अर्थ—यदि अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य पुष्प-बीज और हरियाली से उन्मिश्र हों तो वह भक्त-पान संयतों के लिए अकल्पनीय है, इसलिए मुनि देनेवाली स्त्री से कहे कि ऐसा आहार मेरे लिए कल्पता नहीं है।

(५९—६०)

चौपाई— खाद्य स्वाद्य भोजन अरु पाना, जल सजीव पर रखा जु जाना ।
कीरी नगरे पर वा होई मुनिहिं न कलपत अन-जल सोई ।।
देनहारि-सों मुनि कह सोई, ऐसो नहिं कलपत है मोई ।
सो मैं यह आहार न लेऊं, जो कल्पै ताही कूं सेऊं ।।

संस्कृत— अशनं पानकं वापि खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
उदके भवेन्निक्षिप्तं उत्तिग-पनकेषु वा ॥
तद् भवेद् भक्त पानं तु संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ॥

(६१—६२)

मूल— **असणं पाणगं वावि खाइमं साइमं तहा ।**
तेउम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च संघट्टिया दए ॥
तं भवे भत्त पाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

संस्कृत— अशनं पानकं वापि खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
तेजसि भवेन्निक्षिप्तं तच्च संघट्य दद्यात् ॥
तद् भवेद् भक्त पानं तु संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥

(६३—६४)

मूल— **एवं उस्सक्किया ओसक्किया उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया ।**
उस्सिंचिया निस्सिंचिया ओवत्तिया ओयारिया दए ॥
तं भवे भत्त-पाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

संस्कृत— एवमुत्ष्वक्य अवष्वक्य उज्ज्वाल्य प्रज्वाल्य निर्वाप्य ।
उत्सिच्य निषिच्य अपवर्त्य अवतार्य दद्यात् ॥
तद् भवेद् भक्त-पानं तु संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥

अर्थ—यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य पदार्थ पानी, उत्तिंग (कीटिका नगर) और पनक (लीलन-फूलन) पर निक्षिप्त (रखा हुआ) हो तो वह भक्त-पान संयमी जनों के लिए अकल्पनीय होता है। इसलिए मुनि देने वाली स्त्री से कहे कि ऐसा आहार मेरे लिए नहीं कल्पता है।

(६१—६२)

चौपाई— खाद्य स्वाद्य भोजन जल जोई, आगी-ऊपर रख्यो जु होई।
अथवा ताहि परसि करि देई, मुनिहिं न कलपत अन-जल तेई॥
देनहारि-सों मुनि कह सोई, ऐसो नहिं कलपत है मोई।
सो मैं यह आहार न लेऊं, जो कल्पै ताही कूं सेऊं॥

अर्थ—यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य अग्नि पर रखा हुआ हो और उसका (अग्नि का) स्पर्श कर देवे तो वह भक्त-पान संयतों के लिए अकल्पनीय है। इसलिए मुनि देनेवाली स्त्री से कहे कि ऐसा आहार मेरे लिए नहीं कल्पता है।

(६३—६४)

त—

हे में इंधन डार, अथवा निकार कर, अलप बहुत काठ चूल्हे में गिराय के,
आगि को बुझाय, तापै थित पात्र हू तें कछु अन्न कों निकार छींटा पानी को दिराय के।
आगि-थित अन्न ताकों आन पात्र-मांहि डार, आगि ते ऊतारि पात्र देत मुनिराय के,
ऐसो अन-पानी सो तो साधु के न जोग जानी, देती सों कहै कि ऐसो नाहीं मेरे लायके।

अर्थ—इसी प्रकार चूल्हे में इन्धन डालकर, चूल्हे से इन्धन निकालकर, चूल्हे को उज्ज्वलित कर (सुलगा कर), प्रज्वलित (प्रदीप्त) कर, बुझाकर, आग पर रखे हुए पात्र में से आहार निकालकर, पानी का छींटा देकर पात्र को टेढ़ा कर, उतार कर देवे तो वह भक्त-पान संयमी जनों के लिए अकल्पनीय है, इसलिए मुनि देनेवाली स्त्री से कहे कि यह आहार मेरे लिए नहीं कल्पता है।

(६५—६६)

मूल— होज्ज कट्ठं सिलं वावि इट्टालं वावि एगया ।
ठवियं संकमट्ठाए तं च होज्ज चलाचलं ॥
न तेण भिक्खू गच्छेज्जा दिट्ठो तत्थ असंजमो ।
गंभीरं झुसिरं चेव सव्विंदियसमाहिए ॥

संस्कृत— भवेत् काष्ठं शिला वापि इट्टालं वापि एकदा ।
स्थापितं संक्रमार्थं तच्च भवेच्चलाचलम् ॥
न तेन भिक्षुर्गच्छेद् दृष्टस्तत्रासंयमः ।
गम्भीरं शुषिरं चैव सर्वेन्द्रियसमाहितः ॥

(६७—६८—६९)

मूल— निस्सेणिं फलगं पीढं उस्सवित्ताणमारुहे ।
मंचं कीलं च पासायं समणट्ठाए व दावए ॥
दुरूहमाणी पवडेज्जा हत्थं पायं वा लूसए ।
पुढविजीवे वि हिंसेज्जा जे य तन्निस्सिया जगा ॥
एयारिसे महादोसे जाणिऊण महेसिणो ।
तम्हा मालोहडं भिक्खं न पडिगेण्हंति संजया ॥

संस्कृत— निश्रेणिं फलकं पीठं उत्सृत्य आरोहेत् ।
मञ्चं कीलं च प्रासादं श्रमणार्थं वा दायकः (का) ॥
आरोहन्ती प्रपतेत् हस्तं पादं वा लूषयेत् ।
पृथिवीजीवान् विहिंस्यात् यांश्च तन्निश्रितान् 'जगा' ॥
एतादृशान् महादोषान् ज्ञात्वा महर्षयः ।
तस्मान्मालापहृतां भिक्षां न प्रतिगृह्णन्ति संयताः ॥

(७०)

मूल— कंदं मूलं पलंबं वा आमं छिन्नं व सन्निरं ।
तुंबागं सिंगबेरं च आमगं परिवज्जए ॥

संस्कृत— कंद मूलं प्रलम्बं वा आमं छिन्नं वा सन्निरम् ।
तुम्बकं शृङ्गवेरं च आमकं परिवर्जयेत् ॥

(६५—६६)

सवैया— ईंट सिला लकरा जु थपे कछु, पावस में मग चालन चाही,
वे थिर नाहिं डगामग डोलत, तो तिहि पंथतें संत न जाही।
देख्यो असंजम ऐसन तें, अनहू गहरे मग पोले तजाहीं,
जो परवीन सबै इंदरीन को, कौन है लीन समाधि के मांही।।

अर्थ—यदि कभी काठ, शिला या ईंट के टुकड़े संक्रमण (जल या कीचड़ पार करने) के लिए रखे हुए हों और वे चलाचल हों तो सर्वेन्द्रियों की सावधानी वाला साधु उन पर होकर न जावे। इसी प्रकार वह प्रकाश-रहित और पोली भूमि से न जावे, भगवान् ने वहां पर असंयम (प्राणि-घात और आत्म-विराधन) देखा है।

(६७—६८—६९)

दोहा—पीढ पाटिया पलंग वा, नीसेनी हिं उठाइ।
मुनि-हित ऊंचे घरि चढ़ै, देनहारि जो जाइ।।
तुलसों चढ़ती गिर परै, कर पग डारै तोर।
भूमि-काय-जीवनि हनै, जो ठहरै तिहि ठोर।।
ऐसो मोटो दोस लखि, साधु महारिसि जेय।
तातें पंकति-रचनि करि, लाई भीख न लेय।।

अर्थ—श्रमण के लिए दाता निसैनी, फलक या पीठ को ऊंचा कर मंचान स्तम्भ और प्रासाद पर चढ़ भक्त-पान लावे तो साधु उसे ग्रहण न करे। क्योंकि नसैनी आदि से चढ़ती हुई स्त्री गिर सकती है और हाथ-पैर टूट सकते हैं। उसके गिरने से नीचे दबकर पृथ्वी की तथा पृथ्वी के आश्रित अन्य जीवों की विराधना हो सकती है। अतः ऐसे महादोषों को जानकर महर्षि संयमी मालापहृत (ऊपरी मंजिल से सीढ़ी आदि चढ़कर लाई हुई) वस्तु की भिक्षा नहीं लेते हैं।

(७०)

दोहा—कंद मूल फल अपक जे, छेदित पत्ता साग।
आदा लौकी (घीया) साक ए, सचित जानि मुनि त्याग।।

अर्थ—अपक्व कन्द, मूल, फल छिला हुआ, पत्ती का शाक, तुम्बाक (लौका-घीया) और अदरक का मुनि परित्याग करे।

(७१—७२)

मूल— तहेव सत्तुचुण्णाइं कोलचुण्णाइं आवणे ।
सक्कुलिं फाणियं पूयं अन्नं वावि तहाविहं ॥
विक्कायमाण पसढं रएण परिफासियं ।
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

संस्कृत— तथैव सक्तुचूर्णानि कोलचूर्णानि आपणे ।
शष्कुलीं फाणितं पूपं अन्यद्वापि तथाविधम् ॥
विक्रीयमाणं प्रसृतं रजसा परिस्पृष्टम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥

(७३—७४)

मूल— बहुअट्ठियं पुग्गलं अणिमिसं वा बहुकंटयं ।
अत्थियं तिंदुयं बिल्लं उच्छुखंडं व सिंबलिं ॥
अप्पे सिया भोयणजाए बहुउज्झिय धम्मिए ।
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

संस्कृत— बह्वस्थिकं पुद्गलं अनिमिषं वा बहुकण्टकम् ।
अस्थिकं तिन्दुकं बिल्वं इक्षुखण्डं वा शिम्बिम् ॥
अल्पं स्याद् भोजनजातं बहु - उज्झित - धर्मकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥

(७५—७६—७७)

मूल— तहेवुच्चावयं पाणं अदुवा वारधोवणं ।
संसेइमं चाउलोदगं अहुणाधोयं विवज्जए ॥
जं जाणेज्ज चिराधोयं मईए दंसणेण वा ।
पडिपुच्छिऊण सोच्चा वा जं च निस्संकियं भवे ॥
अजीवं परिणयं नच्चा पडिगाहेज्ज संजए ।
अह संकियं भवेज्जा आसाइत्ताण रोयए ॥

(७१—७२)

सवैया— **रेनु-सचित्त-सने सतुआ, बदरी फल के करि चूरन नाखे,**
ढील्यो भयो गुड़, त्यों तिल पापरि, पूंआ पमूह सु जीरन दाखे।
दीखत में सबके धरिके वह, बेचन-काज बजार में राखे,
ऐसो आहार हमें कलपै नहिं देवनहारि सों संत सु भाखे॥

अर्थ—इसी प्रकार सत्तू, बेरों का चूर्ण, तिल-पपड़ी, गीला गुड़ (राव), पूआ तथा इसी प्रकार की दूसरी वस्तुएं जो बेचने के लिए दूकान में रखी हों, परन्तु बिकी न हों, रज (धूलि) से स्पृष्ट (लिप्त) हो गई हों, तो मुनि उन्हें देती हुई स्त्री से कहे कि ये वस्तुएं हमें नहीं कलपती हैं।

(७३—७४)

चौपाई— **बहु गुठली पुदगल फल जानो, अनिमिष वा बहु कंटक ठानो।**
अस्थिक तिन्दुक बिल्व प्रमानो, सेलरि-खंड साल्मली मानो॥

दोहा— **जामें थोरो खावनो, बहुत डारनो होय।**
देती सों मुनि यों कहे, यह कलपै नहिं मोय॥

अर्थ—बहु-अस्थिक (बहुत बीजों वाला फल, जैसे सीताफल), पोद्गल (फल-विशेष—जिसमें गूदा या दल अधिक हो), अनिमिष (अननासफल), आस्थिक (वह फल जिसमें मोटे रेशे हों), तिन्दुक (तेन्दू का फल), विल्व (बेल का फल), गन्ने की गंडेरी और शिम्बी (सेमफली) आदि ऐसे पदार्थ—जिनमें खाने का भाग थोड़ा हो और डालना अधिक पड़े—देती हुई स्त्री से मुनि कहे कि ऐसा आहार मुझे नहीं कल्पता है।

(७५—७६—७७)

चौपाई— **ऊंच नीच पानी पुनि तैसे, अथवा गुड़ घट धोवन ऐसे।**
कठवति-धोवन, चावल-पानी, तजे तुरत के धोए जानी॥
बहुत समय के धोए जानै, जो मति तैं, देखन तैं मानै।
पूछ बहुरि मुनि के हू सोई, बिन सन्देह संत जो होई॥
जानि अजीव-भाव-गत ताही, ग्रहन करै संजति सो चाही।
अरुचि आदि शंका जो होई, स्वाद लेय जानै पुनि सोई॥

संस्कृत— तथैवोच्चावचं पानं अथवा वार-धोवनम् ।
संस्वेदजं (संसेकजं) तण्डुलोदकं अधुना-धौतं विवर्जयेत् ।।
यज्जानीयाच्चिराद् धौतं गत्या दर्शनेन वा ।
प्रतिपृच्छ्य श्रुत्वा वा यच्च निःशङ्कितं भवेत् ।।
अजीवं परिणतं ज्ञात्वा प्रतिगृह्णीयात् संयतः ।
अथ शङ्कितं भवेत् आस्वाद्य रोचयेत् ।।

(७८)

मूल— थोवमासायणट्ठाए हत्थगम्मि दलाहि मे ।
मा मे अच्चंबिलं पूइं नालं तण्हं विणित्तए ।।

संस्कृत— स्तोकमास्वादनार्थं हस्तके देहि मे ।
मा मे अत्यम्लं पूतिं नालं तृष्णां विनेतुम् ।।

(७९)

मूल— तं च अच्चंबिलं पूइं नालं तण्हं विणेत्तए ।
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ।।

संस्कृत— तच्चात्यम्लं पूतिं नालं तृष्णां विनेतुम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ।।

(८०—८१)

मूल— तं च होज्ज अकामेणं विमणेण पडिच्छयं ।
तं अप्पणा न पिबे नो वि अन्नस्स दावए ।।
एगंतमवक्कमित्ता अचित्तं पडिलेहिया ।
जयं परिट्ठवेज्जा परिट्ठप्प पडिक्कमे ।।

संस्कृत— तच्च भवेदकामेन विमनसा प्रतीप्सितम् ।
तद् आत्मना न पिबेत् नो अपि अन्यस्मै दापयेत् ।।
एकान्तमवक्रम्य अचित्तं प्रतिलेख्य ।
यतं परिस्थापयेत् परिस्थाप्य प्रतिक्रामेत् ।।

अर्थ—उच्च-जल (जिसका रूप, रस, गन्ध अच्छा हो), अवच-जल (जिसका रूप, रस, गन्ध अच्छा न हो) अथवा वार-धोवन (गुड़ के घड़े का धोवन) संसेदिम (आटे का धोवन), चावल का धोवन, यदि अधुनाधौत (अभी तत्काल का धोया हुआ) जल हो तो उसे मुनि नहीं लेवे। अपनी बुद्धि से या देखने से, पूछकर या सुनकर जान ले कि यह धोवन चिरकाल का है और निःशंकित हो जाय तो उसे जीव-रहित और परिणत जानकर संयमी मुनि ले लेवे। यह जल मेरे लिए उपयोगी होगा या नहीं—ऐसा सन्देह हो तो उसे चखकर लेने का निश्चय करे।

(७८)

पद्धरी— **थोरो सो चाखन हेतु एह, मेरे हाथनि पर नीर देह।**
अति खाटो सड़ियल मति सु होय, जो प्यास बुझाइ सकत न मोय॥

अर्थ—दाता से कहे—चखने के लिए थोड़ा-सा जल मेरे हाथ में दो। बहुत खट्टा, दुर्गन्ध-युक्त और प्यास बुझाने में असमर्थ जल लेकर मैं क्या करूंगा?

(७९)

पद्धरी— **अति खाटो सड़ियल नीर होय, नहिं प्यास बुझावन-सकत सोय।**
तो देनहारि-सों कहै सोय, ऐसो नहिं कलपत नीर मोय॥

अर्थ—यदि वह जल बहुत खट्टा, दुर्गन्ध-युक्त और प्यास बुझाने में असमर्थ हो, तो देती हुई स्त्री से कहे कि ऐसा यह जल मुझे नहीं कल्पता है।

(८०—८१)

[पद्ध]री— **ऊपर जु कह्यो तस नीर होय, विनु मन, विनु इच्छा गहेउ सोय।**
यो साधु आप नहिं करै पान, दूजे हू कों नहिं करै दान॥
विनु जीव ठोर एकान्त जाय, करिके पडिलेहन जतन लाय।
वह नीर परठि ता ठौर देय, तिहिं परठि प्रतिक्रमणहिं करेय॥

अर्थ—यदि वह जल अनिच्छा या असावधानी से लिया हो तो उसे न स्वयं पीवे और न दूसरे साधुओं को देवे। किन्तु एकान्त में जा, अचित्त भूमि को देख, यतनापूर्वक उसे परिस्थापित करे। परिस्थापित करने के पश्चात् अपने स्थान में जाकर प्रतिक्रमण करे।

(८२—८३)

मूल— सिया य गोयरग्गगओ इच्छेज्जा परिभोत्तुयं ।
कोट्ठगं भित्तिमूलं वा पडिलेहित्ताणं फासुयं ॥
अणुन्नवेत्तु मेहावो पडिच्छन्नम्मि संवुडे ।
हत्थगं संपमज्जित्ता तत्थ भुंजेज्ज संजए ॥

संस्कृत— स्याच्च गोचराग्रगतः इच्छेत् परिभोक्तुम् ।
कोष्ठकं भित्तिमूल वा प्रतिलेख्य प्रासुकम् ॥
अनुज्ञाप्य मेधावी प्रतिच्छन्नें संवृते ।
हस्तकं संप्रमृज्य तत्र भुञ्जीत संयतः ॥

(८४—८५—८६)

मूल— तत्थ से भुंजमाणस्स अट्ठियं कंटओ सिआ ।
तण-कट्ठ सक्करं वावि अन्नं वावि तहाविहं ॥
तं उक्खिवित्तु न निक्खिवे आसएण न छड्डए ।
हत्थेण तं गहेऊणं एगंतमवक्कमे ॥
एगंतमवक्कमित्ता अचित्तं पडिलेहिया ।
जयं परिट्ठवेज्जा परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥

संस्कृत— तत्र तस्य भुञ्जानस्य अस्थिकं कण्टकः स्यात् ।
तृण-काष्ठ-शर्करा वापि अन्यद्वापि तथाविधम् ॥
तद् उत्क्षिप्य न निक्षिपेत् आस्यकेन न छर्दयेत् ।
हस्तेन तद् गृहीत्वा एकान्तमवक्रामेत् ॥
एकान्तमवक्रम्य अचित्तं प्रतिलेख्य ।
यतं परिस्थापयेत् परिस्थाप्य प्रतिक्रामेत् ॥

(८७—८८)

मूल— सिया य भिक्खू इच्छेज्जा सेज्जमागम्म भोत्तुयं ।
सपिंडपायमागम्म उंडुयं पडिलेहिया ॥
विणएण पविसित्ता सगासे गुरुणो मुणो ।
इरियावहियमायाय आगओ य पडिक्कमे ॥

(८२—८३)

पद्धरी— जो संत गोचरी-हेतु जाय, तित ही भोजन की करै चाय ।
तो सूनो घर वा भींति पाय, ता मूल प्रासु थल पडिलिहाय ।
मतिवंत संत आज्ञा हि पाय, सो ढकित थान उपयोग लाय ।
भलि-भाँतिहिं हाथनि कों सुझारि, तिहिं ठौर करै संजति अहार ॥

अर्थ—गोचरी के लिए गया हुआ मुनि कदाचित् आहार करना चाहे तो प्रासुक कोठा या भीति के मूल-भाग को देखकर, उसके स्वामी से अनुज्ञा लेकर ऊपर से छायावाले एवं संवृत्त (पार्श्व भाग से आवृत्त) ऐसे स्थल पर बैठे और हस्तक (पूंजनी) से शरीर एवं स्थान का प्रमार्जन कर मेधावी संयत वहां भोजन करे ।

(८४—८५—८६)

पद्धरी— तित करत तासु आहार जोय, गुठली तृन कंटक काठ होय ।
कंकर वा तैसो और कोय, ताकों उठाय फेंके न सोय ॥
भलि-भांति पकरि एकान्त जाय, एकान्त जाय महि अचित पाय ।
पडिलेहन करि जतना-समेत, परठे सु परठि प्रतिक्रमन लेत ॥

अर्थ—वहाँ भोजन करते हुए मुनि के आहार में गुठली, कांटा, तिनका, काठ का टुकड़ा, कंकड़ या इसी प्रकार की कोई दूसरी वस्तु निकले तो उसे उठाकर न फेंके, मुंह से न थूके किन्तु हाथ में लेकर एकान्त में जावे । एकान्त में जाकर उचित भूमि को देख, यतना-पूर्वक उसे परिस्थापित करे । परिस्थापित करने के पश्चात अपने स्थान में आकर प्रतिक्रमण करे ।

(८७—८८)

पद्धरी— जो चहै उपाश्रय मांहि आय, भोजन करतो संजति सुभाय ।
तो सुध आहार-जुत तहां आय, भोजन की भूमि हि पडिलिहाय ॥
गुरु के समीप संजति सुजान, परवेस करै अति विनय आन ।
इरियापथिका करि करहु ध्यान, पडिकमे जथाविधि के प्रमान ॥

संस्कृत— स्याच्च भिक्षुरिच्छेत् शय्यामागम्य भोक्तुम् ।
सपिण्डपातमागम्य 'उंडुयं' प्रतिलेख्य ॥
विनयेन प्रविश्य सकाशे गुरोर्मुनिः ।
ऐर्यापथिकीमादाय आगतश्च प्रतिक्रामेत् ॥

(८९–९०)

मूल— आभोएत्ताण नीसेसं अइयारं जहक्कमं ।
गमणागमणे चेव भत्त-पाणे व संजए ॥
उज्जुप्पन्नो अणुव्विग्गो अव्वक्खित्तेण चेयसा ।
आलोए गुरुसगासे जं जहा गहियं भवे ॥

संस्कृत— आभोग्य निःशेषं अतिचारं यथाक्रमम् ।
गमनागमने चैव भक्त-पाने च संयतः ॥
ऋजुप्रज्ञः अनुद्विग्नः अव्याक्षिप्तेन चेतसा ।
आलोचयेद् गुरुसकाशे यद् यथा गृहीतं भवेत् ॥

(९१—९२—९३)

मूल— न सम्ममालोइयं होज्जा पुव्विं पच्छा व जं कडं ।
पुणो पडिक्कमे तस्स वोसट्ठो चिंतए इमं ॥
अहो जिणेहि असावज्जा वित्ती साहूण देसिया ।
मोक्खसाहणहेउस्स साहुदेहस्स धारणा ॥
णमोक्कारेण पारेत्ता करेत्ता जिणसंथवं ।
सज्झायं पट्ठवेत्ताणं वीसमेज्ज खणं मुणी ॥

संस्कृत— न सम्यगालोचितं भवेत् पूर्वं पश्चाद्वा यत्कृतम् ।
पुनः प्रतिक्रामेत्तस्य व्युत्सृष्टश्चिन्तयेदिदम् ॥
अहो जिनैः असावद्या वृत्तिः साधुभ्यो देशिता ।
मोक्षसाधनहेतोः साधुदेहस्य धारणाय ॥
नमस्कारेण पारयित्वा कृत्वा जिनसंस्तवम् ।
स्वाध्यायं प्रस्थाप्य विश्राम्येत् क्षणं मुनिः ॥

अर्थ—कदाचित् भिक्षु शय्या (उपाश्रय) में आकर भोजन करना चाहे तो भिक्षा सहित वहां आकर स्थान की प्रतिलेखना करे। उसके पश्चात् विनयपूर्वक उपाश्रय में प्रवेश कर गुरु के समीप उपस्थित हो 'ईर्यापथिकी' सूत्र को पढ़कर प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) करे।

(८९—९०)

पद्धरी— आवन-जावन की क्रिया मांहि, अरु भात-पानि-हित लगे तांहि।
क्रम-पूर्वक सो संजति सुजान, अतिचार अखिल उर धरै ध्यान॥
सो सरल बुद्धि, उद्वेग-हीन, अविचलितचित्त संजति प्रवीन।
गुरु-निकट निवेदन करै तेह, जिहि भांति पदारथ गहे जेह॥

अर्थ—आने-जाने में और भक्त-पान लेने में लगे समस्त अतिचारों को यथाक्रम से याद कर, ऋजुप्रज्ञ (सरल-बुद्धि) और अनुद्विग्न (उद्वेग-रहित) साधु विक्षेप-रहित चित्त से गुरु के समीप आलोचना करे। जिस प्रकार से भिक्षा ली हो उसी प्रकार से गुरु को कहे।

(९१—९२—९३)

पद्धरी भलि-भांति निवेदन भयो जौन, पहिले पाछे वा किये तौन।
पुनि करै प्रतिक्रम तासु सोय, पुनि ध्यान चिंतवन करै जोय॥

दोहा — अहो बिखाई जिननि ने मुनि की राह अदोस।
साधु-देह धारन तथा, कारन साधन मोख॥
नमोकार कहि ध्यान तज, जिन-संस्तव पढ़ि लेय।
पूरन करि सज्झाय मुनि, छिन बिसरामहिं सेय॥

अर्थ—सम्यक् प्रकार से आलोचना न हुई हो अथवा पहिले-पीछे की हो (आलोचना का क्रमभंग हुआ हो) उसका फिर प्रतिक्रमण करे। पुनः शरीर को स्थिर कर यह चिन्तवन करे—अहो, कितना आश्चर्य है—जिनदेव ने साधुओं की मोक्ष-साधना के हेतुभूत संयमी शरीर की धारणा के लिए निर्दोषवृत्ति का उपदेश दिया है। इस चिन्तनमय कायोत्सर्ग को नमस्कार-मंत्र के द्वारा पूर्ण कर जिन-संस्तव (चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति) करे। फिर स्वाध्याय की प्रस्थापना (प्रारम्भ) करे। पुनः क्षण-भर विश्राम करे।

(९४)

मूल— वीसमंतो इमं चिंते हियमट्ठं लाभमट्ठिओ ।
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा साहू होज्जामि तारिओ ॥

संस्कृत— विश्राम्यन् इमं चिन्तयेत् हितमर्थं लाभार्थिकः ।
यदि मेऽनुग्रहं कुर्युः साधवो भवामि तारितः ॥

(९५—९६)

मूल— साहवो तो चियत्तेण निमंतेज्ज जहक्कमं ।
जेइ तत्थ केइ इच्छेज्जा तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥
अह कोइ न इच्छेज्जा तओ भुंजेज्ज एक्कओ ।
आलोए भायणे साहू जयं अपरिसाडयं ॥

संस्कृत— साधूंस्ततः 'चियत्तेण' निमन्त्रयेद् यथाक्रमम् ।
यदि तत्र केचिदिच्छेयुः तैः सार्धं तु भुञ्जीत ॥
अथ कोऽपि नेच्छेत् ततः भुञ्जीत एककः ।
आलोके भाजने साधुः यतमपरिशाटयन् ॥

(९७)

मूल— तित्तगं व कडुयं व कसायं अंबिलं व मुहुरं लवणं वा ।
एय लद्धमन्नट्ठपउत्तं महु-घयं व भुंजेज्ज संजए ॥

सस्कृत— तिक्तकं वा कटुकं वा कषायं अम्लं वा मधुरं लवणं वा ।
एतल्लब्धमन्यार्थप्रयुक्तं मधु-घृतमिव भुञ्जीत संयतः ॥

(९८—९९)

मूल— अरसं विरसं वावि सूइयं वा असूइयं ।
उल्लं वा जइ वा सुक्कं मंथु - कुम्मास - भोयणं ॥
उप्पण्णं नाइ हीलेज्जा अप्पं पि बहु फासुयं ।
मुहालद्धं मुहाजीवी भुंजेज्ज दोसवज्जियं ॥

(९४)

पद्धरी— विश्राम करत चितं सु एह, हित-हेतु लाभ निज हेतु तेह ।
जो करइ कृपा मुनिराज कोइ, जल-असन गहैं उद्धरें मोइ ॥

अर्थ—विश्राम करता हुआ मुक्ति लाभ का इच्छुक मुनि इस हितकर अर्थ का चिंतन करे—यदि आचार्य और साधु मुझ पर अनुग्रह करें तो मैं निहाल हो जाऊँ और समझूं कि उन्होंने मुझे भवसागर से तार दिया ।

(९५—९६)

पद्धरी— तब साधुन कों अति प्रीति लाय, क्रमसों सु निमन्त्रन करै ताय ।
उनमें तें इच्छा करइ कोय, तिन संग करै भोजनहिं सोय ॥
जो करै न इच्छा और कोय, तो करै अकेलो भोज सोय ।
संजति प्रकास जुत पात्र-माँय, जतननि जीमे नहिं महिं गिराय ॥

अर्थ—वह प्रेमपूर्वक साधुओं को यथाक्रम से निमंत्रण दे । उन निमंत्रित साधुओं में से यदि कोई साधु भोजन करना चाहे तो उनके साथ भोजन करे । यदि कोई साधु भोजन न करना चाहे तो खुले पात्र में यतनापूर्वक नीचे नहीं डालता हुआ अकेला ही भोजन करे ।

(९७)

पद्धरी— तीखो कड़वो वा जुत कसाय, खाटो मीठो लूनो जु आय ।
औरन-हित कीनो जो अहार, आन्यो आगम आज्ञानुसार ॥
संयति सो भोगे शान्ति मान, मानै मधु अथवा घृत समान ।
जो मिला मुझे निज विधि-समान, उसमें ही है मम बहु कल्यान ॥

अर्थ—गृहस्थ के लिए बना हुआ तिक्त, कटुक, कषाय (कसैला) खट्टा, मीठा या नमकीन जो भी आहार उपलब्ध हो, उसे संयमी मुनि मधु-घृत के समान समझकर खावे ।

(९८—९९)

कवित्त—
विधि सों मिल्यो है आन, अरस विरस जान, सूचित-असूचित सरस सूखो जैसो है,
बोरन को चूरन, उरदहू के बाकलिया, सरस है थोरो तथा नीरस घनेरो है ।
ताहू की न निंदा करै, विन ही वसीले चरै, बिना कोऊ हीलेके अहार आन्यो ऐसो है,
प्रासुक अहार आहि वामें कोऊ दोस नाहीं, त्यागी मुनिराज ताहि भोगें जान तैसो है ।

संस्कृत— अरसं विरसं वापि सूपितं (प्यं) वा असूपितम् (प्यम्) ।
आर्द्र वा यदि वा शुष्कं मन्थु-कुल्माष - भोजनम् ॥
उत्पन्नं नाति हीलयेत् अल्पं वा बहु प्रासुकम् ।
मुधालब्धं मुधाजीवी भुञ्जीत दोषवर्जितम् ॥

(१००)

मूल— दुल्लहा उ मुहादाई मुहाजीवी वि दुल्लहा ।
मुहादाई मुहाजीवी दो वि गच्छंति सोग्गइं ॥

—त्तिबेमि

संस्कृत— दुर्लभास्तु मुधादायिनः मुधाजीविनोऽपि दुर्लभाः ।
मुधादायिनो मुधाजीविनः द्वावपि गच्छतः सुगतिम् ॥

—इति ब्रवीमि

पिंडेसणा पढमो उद्दे सो सम्मत्तो ।

□

अर्थ—मुधाजीवी (अनासक्त भाव से जीने वाला) मुनि अरस या विरस, व्यंजन-सहित या व्यंजन-रहित, आर्द्र या शुष्क, मन्थु (वेर का चूर्ण) और कुल्माष (उड़द के वाकले) आदि जैसा भी भोजन विधि पूर्वक प्राप्त हो, उसकी निन्दा न करे। निर्दोष आहार अल्प या अरस होते हुए भी बहुत और सरस होता है। इसलिए उस मुधालब्ध (निरीहवृत्ति से प्राप्त) और दोष-वर्जित आहार को समभाव से खावे।

(१००)

चौपाई— **दुरलभ जो विनु स्वारथ देई, दुरलभ जो विनु स्वारथ लेई।**
निस्पृह मन भिक्षुक अरु दानी, सुगति जाहि ए दोनों प्रानी॥

अर्थ—मुधादायी (निःस्पृह भाव से देने वाला) दाता दुर्लभ है, और मुधाजीवी (निःस्पृह वृत्ति से जीवित रहने वाला) पात्र भी दुर्लभ है। मुधादायी दाता, मुधाजीवी-सुपात्र ये दोनों सुगति को प्राप्त होते हैं।

ऐसा मैं कहता हूं।

पिंडैषणा अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त।

पंचमं पिंडेसणा अज्झयणं

(बीओ उद्देसो)

(१)

मूल— पडिग्गहं संलिहित्ताणं लेव-मायाए संजए ।
दुगंधं वा सुगंधं वा सव्वं भुंजे न छड्डए ॥

संस्कृत— प्रतिग्रहं संलिह्य लेप-मात्रया संयतः ।
दुर्गन्धं वा सुगन्धं वा सर्वं भुञ्जीत न छर्दत् ॥

(२)

मूल— सेज्जा निसीहियाए समावन्नो व गोयरे ।
अयावयट्ठा भोच्चाणं जइ तेणं न संथरे ॥

संस्कृत— शय्यायां नैषेधिक्यां समापन्नो वा गोचरे ।
अयावदर्थं भुक्त्वा णं यदि तेन न संस्तरेत् ॥

(३)

मूल— तओ कारणमुप्पन्न भत्त-पाणं गवेसए ।
विहिणा पुव्व उत्तेण इमेणं उत्तरेण य ॥

संस्कृत— ततः कारणे उत्पन्ने भक्त-पानं गवेषयेत् ।
विधिना पूर्वोक्तेन अनेन उत्तरेण च ॥

पंचम पिण्डेषणा अध्ययन

(द्वितीय उद्देशक)

(१)

पद्धरी— भलि भांति पोंछि के पात्र सोय, सुरभित दुगंध-जुत कछु जु होय।
सब भोग लेय, नहिं लेप-मात्र संजति सो राखै लग्यो पात्र॥

अर्थ—साधु पात्र में लगे हुए लेप-मात्र को—चाहे वह दुर्गन्ध-युक्त हो, अथवा चाहे सुगन्ध-युक्त हो, उस सबको अँगुली से पोंछकर खा जाय, किन्तु कुछ भी न छोड़े।

(२)

पद्धरी— धामक, अथवा स्वाध्याय-थान, जो गयो गोचरी हेतु लान।
भोग्यो, जु अपूरन हूं आहार, नहिं सरयो इते ते लखै कार॥

अर्थ—गोचरी के लिए गया हुआ मुनि उपाश्रय या स्वाध्याय-स्थान में, आकर उस लाये हुए आहार को खावे। यदि वह पर्याप्त न हो तो (क्या करे, यह कहते हैं।)

(३)

पद्धरी— तो कारन की उतपति हि पाय, फिर अन-जल खोजै साधु जाय।
पूरव भाखी ता विधि-प्रमान, अथवा यह उत्तर विधि हि ठान॥

अर्थ—तब वह साधु ऐसा प्रसंग उपस्थित होने पर पुनः पूर्वोक्त उद्देशक में कही हुई विधि से, अथवा इस आगे कही जाने वाली विधि से पुनः भक्त-पान की गवेषणा करे।

(४)

मूल— **कालेण निक्खमे भिक्खु कालेण य पडिक्कमे ।**
अकालं च विवज्जित्ता काले कालं समायरे ॥

संस्कृत— कालेन निष्क्रामेद् भिक्षु कालेन च प्रतिक्रामेत् ।
अकालं च विवर्ज्य काले कालं समाचरेत् ॥

(५)

मूल— **अकाले चरसि भिक्खू कालं न पडिलेहसि ।**
अप्पाणं च किलामेसि सन्निवेशं च गरिहसि ॥

संस्कृत— अकाले चरसि भिक्षो, कालं न प्रतिलिखसि ।
आत्मानं च क्लामयसि सन्निवेशं च गर्हसे ॥

(६)

मूल— **सइ काले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारियं ।**
अलाभो त्ति न सोएज्जा तवो त्ति अहियासए ॥

संस्कृत— सति काले चरेद् भिक्षुः कुर्यात् पुरुषकारकम् ।
'अलाभ' इति न शोचेत् तप इति अधिसहेत ॥

(७)

मूल— **तहेवुच्चावया पाणा भत्तट्ठाए समागया ।**
त उज्जुयं न गच्छेज्जा जयमेव परक्कमे ॥

संस्कृत— तथैवोच्चावचाः प्राणाः भक्तार्थं समागताः ।
तदृजुकं न गच्छेत् यतमेव पराक्रमेत् ॥

(८)

मूल— **गोयरग्गपविट्ठो उ न निसीएज्ज कत्थई ।**
कहं च न पबंधेज्जा चिट्ठित्ताण व संजए ॥

संस्कृत — गोचराग्र प्रविष्टस्तु न निषीदेत् कुत्रचित् ।
कथां च न प्रबध्नीयात् स्थित्वा वा संयतः ॥

(४)

पद्धरी— **निकले तब संजति समय हेर, परवेस करै लखि समय फेर ।**
असमय कों वरजै भिक्षु सोय, आचरै समय को समय जोय ।।

अर्थ भिक्षु भिक्षा काल के समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर लौट आये । अकाल को छोड़कर जो कार्य जिस समय का हो, उसे उसी समय करे ।

(५)

पद्धरी— **बिनु समय चलत हो भिक्षु आप, नहिं समय निहारत कच्छु आप ।**
निज आतम कों करि दुखित जोय, फिर बुरो कहत हो गांव सोय ।।

अर्थ—हे भिक्षो, तुम अकाल में जाते हो, और काल की प्रतिलेखना नहीं करते, अर्थात् गोचरी के समय का ध्यान नहीं रखते हो, अतः तुम अपने आपको क्लान्त (खेद-खिन्न) करते हो और संन्निवेश (गांव) की भी निन्दा करते हो । (कि इस गांव में आहार नहीं मिलता) ।

(६)

दोहा—छते काल मुनिवर चरै, करै सु पौरुस चाहि ।
जो न मिलै, सोचै न तो, सहै जानि तप ताहि ।।

अर्थ—भिक्षु भिक्षा-काल में भिक्षा के लिए जावे, पुरुषकार (पुरुषार्थ परिश्रम) करे, फिर भी यदि भिक्षा न मिले तो उसका सोच न करे, किन्तु आज सहज में ही तप हो गया, ऐसा विचार कर भूख को समभाव से सहन करे ।

(७)

दोहा—ऊंच-नीच पंछी-प्रमुख, जुटे जीव अन-हेत ।
तिन सनमुख जावै नहीं, निकसै जतन - समेत ।।

अर्थ—इसी प्रकार गोचरी के लिए जाते समय मार्ग में चुग्गा चुगने के लिए आये हुए हंस-कबूतर आदि ऊँच जाति के और काक-गिद्ध आदि नीच जाति के प्राणी एकत्र जुटे हों, तो उनके सन्मुख न जावे, किन्तु जिस प्रकार से उन्हें त्रास न पहुंचे उस प्रकार से यतना-पूर्वक जावे ।

(८)

चौपाई— **संजति गयो गोचरि हिं जोय, काहू थल बैठे नहिं सोई ।**
अथवा बैठि सु कोठक थानक, कहत लगैं नहिं कोई कथानक ।।

अर्थ—गोचरी के लिए गया हुआ साधु न कहीं बैठे और न कहीं खड़ा रहकर कथा-वार्ता आदि ही करे ।

(९)

मूल— अग्गलं फलिहं दारं कवाडं वावि संजए ।
अवलंबिया न चिट्ठेज्जा गोयरग्गगओ मुणी ॥

संस्कृत— अर्गलां परिघं द्वारं कपाटं वापि संयतः ।
अवलम्ब्य न तिष्ठेत् गोचराग्रगतो मुनिः ॥

(१०—११)

मूल— समणं माहणं वावि किविणं वा वणीमगं ।
उवसंकंतं भत्तट्ठा पाणट्ठाए व संजए ॥
तं अइक्कमित्तु न पविसे न चिट्ठे चक्खु-गोयरे ।
एगंतमवक्कमित्ता तत्थ चिट्ठेज्ज संजए ॥

संस्कृत— श्रमणं ब्राह्मणं वापि कृपणं वा वनीपकम् ।
उपसंक्रामन्तं भक्तार्थं पानार्थं वा संयतः ॥
तमतिक्रम्य न प्रविशेत् न तिष्ठेत् चक्षुर्गोचरे ।
एकान्तमवक्रम्य तत्र तिष्ठेत् संयतः ॥

(१२)

मूल— वणीमगस्स वा तस्स दायगस्सुभयस्स वा ।
अप्पत्तियं सिया होज्जा लहुत्तं पवयणस्स वा ॥

संस्कृत— वनीपकस्य वा तस्य दायकस्योभयोर्वा ।
अप्रीतिकं स्याद् भवेत् लघुत्वं प्रवचनस्य वा ॥

(१३)

मूल— पडिसेहिए व दिन्ने वा तओ तम्मि नियत्तिए ।
उवसंकमेज्ज भत्तट्ठा पाणट्ठाए व संजए ॥

संस्कृत— प्रतिषिद्धे वा दत्ते वा ततस्तस्मिन् निवृत्ते ।
उपसंक्रामेद् भक्तार्थं पानार्थं वा संयतः ॥

(९)

चौपाई— आगल परिघ दुआर-किवारा, गहि करि के इनको आधारा ।
ठहरै नहीं संजती सोई, गोचरि-हेतु गयो है जोई ॥

अर्थ—गोचरी के लिए गया हुआ साधु आगल-भोगल को, फलक (किवाड़ों को रोकने वाला काठ) को, द्वार को अथवा किवाड़ को अवलम्बन कर कहीं पर नहीं ठहरे ।

(१०—११)

चौपाई— ब्राह्मण समन कृपन वा कोई, जो दरिद्र दुख पीड़ित होई ।
ए अन-जल को कारन पाई, जतन करत जोए मुनिराई ॥
तिन को लंघि न करै प्रवेसा, दीखत में ठहरै नहिं लेसा ।
तब एकान्त थान को जाई, तैसी ठौर साधु ठहराई ॥

अर्थ—भक्त या पान के लिए उपसंक्रमण करते हुए (घर में जाते हुए) श्रमण (बौद्ध साधु), ब्राह्मण, कृपण अथवा वनीपक (भिखारी) को लांघ कर संयमी मुनि गृहस्थ के घर में प्रवेश न करे। गृहस्वामी और श्रमण आदि की आंखों के सामने खड़ा भी न रहे, किन्तु एकान्त में जाकर वहां खड़ा रहे ।

(१२)

चौपाई— जाचक वा दानी वा दोई, करै अप्रीति भावना कोई ।
अथवा जिन-प्रवचन-लघुताई, होय तहां जो सम्मुख जाई ॥

अर्थ —उक्त भिक्षुओं को लांघकर घर में प्रवेश करने पर उन भिक्षार्थियों को, गृहस्वामी को अथवा दोनों को अप्रीति हो सकती है, और जिन-प्रवचन की लघुता होती है ।

(१३)

दोहा—दिये, नटे वा तिन हटे, तिनको निपटै ओर ।
असन-पान-हित संचरै, तब संजति ता ओर ॥

अर्थ —गृहस्वामी द्वारा उन याचकों को भिक्षा दे देने पर अथवा निषेध कर देने पर जब वे याचक गृहस्थ के घर से लौटकर चले जावें, तब साधु भोजन या पान के लिए वहां जावे ।

(१४--१५)

मूल— उप्पलं पउमं वावि कुमुयं वा मगदंतियं ।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं तं च संलुंचिया दए ॥
तं भवे भत्त-पाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

संस्कृत— उत्पलं पद्मं वापि कुमुदं वा मगदन्तिकाम् ।
अन्यद्वा पुष्पसचित्तं तच्च संलुञ्च्य दद्यात् ॥
तद्भवेद् भक्त-पानं तु संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥

(१६--१७)

मूल— उप्पलं पउमं वावि कुमुयं वा मगदंतियं ।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं तं च समद्दिया दए ॥
तं भवे भत्त-पाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

संस्कृत— उत्पलं पद्मं वापि कुमुदं वा मगदन्तिकाम् ।
अन्यद्वा पुष्प सचित्तं तं च समृद्य दद्यात् ॥
तद् भवेद् भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥

(१८—१९—२०)

मूल— सालुयं वा विरालियं कुमुदुप्पलनालियं ।
मुणालियं सासवनालियं उच्छुखंडं अनिव्वुडं ॥
तरुणगं वा पवालं रुक्खस्स तणगस्स वा ।
अन्नस्स वा वि हरियस्स आमगं परिवज्जए ॥
तरुणियं वा छिवाडिं आमियं भज्जियं सइं ।
देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥

(१४—१५)

चौपाई— **नील कमल, कै पदम जु कोई, कुमुद मालती-कुसुम जु होई ।**
और हु सचित सुमन ह्वै जोई, तिहि छेदन करि देति जु होई ॥
मुनिहि न कलपत अन-जल तेहा, देनहारि सों मुनि कह एहा ।
या प्रकार को अन-जल जोई, मोकों नहिं कलपत है सोई ॥

अर्थ—कोई उत्पल (नील कमल), पद्म (लाल, गुलाबी कमल), कुमुद (श्वेत कमल), मालती या अन्य किसी सचित्त पुष्प का छेदन-भेदन कर कोई स्त्री (या पुरुष) भिक्षा देवे, तो वह भक्त-पान संयतों के लिए कल्पनीय नहीं है, इसलिए देनेवाली स्त्री (या पुरुष) से वह साधु कहे कि इस प्रकार का भक्त-पान मेरे लिए नहीं कल्पता है अर्थात् मेरे ग्रहण करने के योग्य नहीं है ।

(१६ १७)

चौपाई— **नीलकमल कै पदम जु कोई, कुमुद मालती-कुसुम जु होई ।**
और हु सचित सुमन ह्वै जोई, तिहि मरदन करि देति जु होई ॥
मुनिहि न कलपत अन-जल तेहा, देनिहारि-सों मुनि कह एहा ।
या प्रकार को अन-जल जोई, मोकों नहिं कलपत है सोई ॥

अर्थ—कोई उत्पल, पद्म, कुमुद, मालती या अन्य किसी सचित्त पुष्प का संमर्दन (कुचल या रोंद) कर भिक्षा देवे, तो वह भक्त-पान संयतों के लिए कल्पनीय नहीं है, इसलिए मुनि देनेवाले से कहे कि इस प्रकार का आहार-पान मेरे लिए नहीं कल्पता है ।[1]

(१८—१९ २०)

कवित्त—

कमल को कंद त्यों पलास हू को कंद होय, कुमुद की नाल-नील कज-नाल कहिये ।
कंजहू के तंतु त्यों सरसों नाल इक्षु-खंड, एते हू सचित्त होंय तिनकों न गहिये ।
तरु तृन अन्य हरियारी की कौंपल नई, अचित भई न, ताकों कैसे करि लहिये ।
मूंगादि की फली काची, नई जु तुरंत ताची, देतो सों कहै कि ऐसो मोकूं नांहि चाहिये ।

नोट—कुछ मूल प्रतियों में ये ही दोनों गाथाएं संफासिया (संस्पृश्य) पाठ के साथ भी मिलती हैं, तदनुसार उक्त उत्पल आदि सचित्त पुष्पों का स्पर्श करके भी यदि कोई आहार देवे, तो साधु के लिए वह अकल्प है, अत: देनेवाली से निषेध कर देवे ।)

संस्कृत— शालूकं वा विरालिकां कुमुदोत्पलनालिकाम् ।
मृणालिकां सर्षपनालिकां इक्षुखण्डमनिर्वृतम् ॥
तरुणकं वा प्रवालं वृक्षस्य तृणकस्य वा ।
अन्यस्य वापि हरितस्य आमकं परिवर्जयेत् ॥
तरुणां वा छिवाडि आमिकां भर्जितां सकृत् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत न मे कल्पते तादृशम् ॥

(२१—२२—२३—२४)

मूल— तहा कोलमणुस्सिन्नं वेणुयं कासवनालियं ।
तिलपप्पडगं नीमं आमगं परिवज्जए ॥
तहेव चाउलं पिट्ठ वियडं वा तत्तनिव्वुडं ।
तिलपिट्ठ पूइ पिन्नागं आमगं परिवज्जए ॥
कविट्ठं माउलिंगं च मूलगं मूलगत्तियं ।
आमं असत्थपरिणयं मणसा वि ण पत्थए ॥
तहेव फलमंथूणि बीयमंथूणि जाणिया ।
विहेलगं पियालं च आमगं परिवज्जए ॥

संस्कृत— तथा कोल मनुत्स्विन्नं वेणुकं काश्यपनालिकाम् ।
तिल पर्पटकं नीमं आमकं परिवर्जयेत् ॥
तथैव चाउलं पिष्टं विकटं वा तप्तनिर्वृतम् ।
तिलपिष्टं पूति पिण्याकं आमकं परिवर्जयेत् ॥
कपित्थं मातुलिङ्गं च मूलकं मूलकर्त्तिकाम् ।
आमामशस्त्र - परिणतां मनसा पि न प्रार्थयेत् ॥
तथैव फलमन्थून् बीजमंथून ज्ञात्वा ।
विभीतकं प्रियालं च आमकं परिवर्जयेत् ॥

अर्थ – शालूक (कमल-कन्द), विरालिय (पलासकन्द), कुमुद-नाल, उत्पल-नाल, मृणाल (कमल तन्तु-दंडनाल), सर्षप-नाल (सरसों का पत्रयुक्त नाल), इक्षुखण्ड (गन्ने की गंडेरी), ये सब अनिर्वृत अर्थात् शस्त्र-परिणत या अग्निपक्व न हों तो साधु ग्रहण न करे। तथा वृक्ष के या तृण के, अथवा किसी प्रकार की किसी भी हरितकाय के कच्चे पत्ते अथवा कच्ची कोंपल आदि जो सचित्त हों तो उन्हें साधु त्याग करे। तथा जिसके बीज नहीं पके हैं ऐसी सेम, मूंग, मटर आदि की फली जो कच्ची हो, अथवा एक बार भूनी हुई फली हो—जिसमें पकने या नहीं पकने की शंका हो—तो ऐसी फली आदि को देनेवाली स्त्री से साधु कहे कि ऐसी वस्तु मुझे नहीं कल्पती है। भावार्थ—साधु को किसी भी प्रकार की सचित्त वस्तु ग्राह्य नहीं है।

(२१—२२—२३—२४)

कवित्त—

तैसे ई न ताचे काचे बेर वंस करेला औ श्रीपर्णी के फल तिल-पापरी को तजिये,
नीमफल तंदुल को आटो औ धोवन नीर सचित भयो सो उन्ही उदक वरजिये।
तिल सरसों की खल, कवीट मातुलिंग फल, मूला, मूली-मूल, काचे मनसों न भजिये,
त्यों ही फल-चूर बीज-चूर औ पियाल फल बहेरा वरजिये औ सचित समझिये।

अर्थ – इसी प्रकार जो उबाला हुआ न हो वह बेर, वंश-कटीर, करेला, काश्यप-नालिका (श्री पर्णीफल या कसेरु) तथा अपक्क तिलपपड़ी और कदम्ब-फल इन सभी कच्चे या अनग्निपक्व का साधु त्याग करे। इसी प्रकार चावल आदि का तत्काल का पिसा हुआ आटा, पूरी तरह न उबला पानी, तिलका पिष्ट (तिलकूटा), राई-साग और सरसों की खली अपक्व का परित्याग करे। अपक्व और शस्त्र से अपरिणत कपित्थ (कैंथ, कवीट) बिजौरा, मूला और मूली के गोल टुकड़े को मनसे भी इच्छा न करे। इसी प्रकार अपक्व फल-मन्थु (फलों का चूर्ण) और बीजमन्थु (बीजों का चूर्ण), बहेड़ा और प्रियाल फल (अचार की चिरोंजी) का भी त्याग करे।

(२५)

मूल— समुयाणं चरे भिक्खू, कुलं उच्चावयं सया ।
नीयंकुलमइक्कम्म ऊसढं नाभिधारए ।।

संस्कृत— समुदानं चरेद् भिक्षां कुलं उच्चावचं सदा ।
नीचं कुलमतिक्रम्य उच्छ्रितं नाभिधारयेत् ।।

(२६)

मूल— अदीणो वित्तिमेसेज्जा न विसीएज्ज पंडिए ।
अमुच्छिओ भोयणम्मि मायन्ने एसणारए ।।

संस्कृत— अदीनो वृत्तिमेषयेत् न विषीदेत पण्डितः ।
अमूर्च्छितो भोजने मात्रज्ञ एषणारतः ।।

(२७)

मूल— बहुं परघरे अत्थि विविहं खाइमसाइमं ।
न तत्थ पंडियो कुप्पे इच्छा देज्ज परो न वा ।।

संस्कृत— बहु परगृहेऽस्ति विविधं खाद्यं स्वाद्यम् ।
न तत्र पण्डितः कुप्येत इच्छा दद्यात् परो न वा ।।

(२८)

मूल— सयणासण - वत्थं वा भत्त-पाणं व संजए ।
अदेंतस्स न कुप्पेज्जा पच्चक्खे वि य दीसओ ।।

संस्कृत— शयनासन - वस्त्रं वा भक्त-पानं वा संयतः ।
अददते न कुप्येत प्रत्यक्षेऽपि च दृश्यमाने ।।

(२९)

मूल— इत्थियं पुरिसं वावि डहरं वा महल्लगं ।
वंदमाणो न जाएज्जा नो य णं फरुसं वए ।।

(२५)

दोहा—ऊंचे नीचे कुलनि मुनि, नित विहरं समभाय ।
नीचे कुलको लंघि कें, ऊँचे में नहि जाय ॥

अर्थ—साधु सदा ऊंच और नीच कुल में अर्थात् धनवान और गरीब के घर में समुदान गोचरी करे। (अनेक घरों में थोड़ी-थोड़ी भिक्षा—अन्न-पान के लेने को समुदान गोचरी कहते हैं।) गोचरी को जाते समय यदि पहिले गरीब गृहस्थ का घर मिले तो उसका उल्लंघन करके ऊसढ़—उच्छ्रत अर्थात् ऊँचे, बड़े और धनवान कुल में न जावे।

(२६)

पद्धरी— ढूंढे निजवृत्ति हि मन अदीन, नहिं करहि खेद पंडित प्रवीन ।
भोजन में मोहित होय नाहिं, जानें प्रमान, रत सोध-माहिं ॥

अर्थ—भोजन में मूर्च्छा-गृद्धिभाव नहीं रखता हुआ, आहार-पानी की मात्रा का ज्ञाता, आहार-गवेषणा में रत, पंडित (ज्ञानी) मुनि दीन-भाव से रहित होकर गोचरी की गवेषणा करे। ऐसा करते हुए भी यदि कदाचित् भिक्षा न मिले तो विषाद न करे।

(२७)

पद्धरी— बहुभांति खाद्य अरु स्वाद्य आहिं, राखे बनाय पर गेह माहिं ।
वाकी इच्छा देवे न वाऽपि, पंडित न तहां कोपै कदापि ॥

अर्थ—गृहस्थ के घर में नाना प्रकार के और भारी परिणाम में खाद्य-स्वाद्य पदार्थ होते हैं, या बनाकर तैयार रख छोड़े हैं। यदि गृहस्थ वे पदार्थ साधु को न देवे तो ज्ञानी साधु उस गृहस्थ पर कुपित न हो। किन्तु यह विचार करे कि यह गृहस्थ है, इसकी इच्छा हो तो देवे, या न देवे।

(२८)

दोहा—असन वसन आसन सयन, पान दृगनि दरसाहिं ।
धनी न देतो लखि परै, करै कोप मुनि नाहिं ॥

अर्थ—गृहस्थ के घर में शय्या, आसन, वस्त्र, भोजन और पान की वस्तुएं प्रत्यक्ष सामने रखी दिखाई देवें, फिर भी यदि वह न देवे तो संयमी साधु उस पर क्रोध न करे।

(२९)

दोहा—जाचे नहिं वंदत लखे, बाल-वृद्ध नर नारि ।
अथवा इनसों नहिं कहै, वचन असाता-कारि ॥

संस्कृत— स्त्रियं पुरुषं वापि डहरं वा महान्तम् ।
वन्दमाणो न याचेत नो चैनं परुषं वदेत् ॥

(३०)

मूल— जे न वंदे न से कुप्पे वंदिओ न समुक्कसे ।
एवमन्नेसमाणस्स सामण्णमणुचिट्ठई ॥

संस्कृत— यो न वन्दते न तस्मै कुप्येत वन्दितो न समुत्कर्षेत् ।
एवमन्वेषमाणस्य श्रामण्यमनुतिष्ठति ॥

(३१—३२)

मूल— सिया एगइओ लद्धुं लोभेण विणिगूहई ।
मा मेयं दाइयं संतं दट्ठूणं सयमायए ॥
अत्तट्ठगुरुओ लुद्धो बहुं पावं पकुव्वई ।
दुत्तोसओ य से होइ निव्वाणं च ण गच्छई ॥

संस्कृत— स्यादेकको लब्ध्वा लोभेन विनिगूहते ।
मामेदं दर्शितं सत् दृष्ट्वा स्वयमादद्यात् ॥
आत्मार्थगुरुको लुब्धः बहुं पापं प्रकरोति ।
दुस्तोषकश्च स भवति निर्वाणं च न गच्छति ॥

(३३—३४—३५)

मूल— सिया एगइओ लद्धुं विविहं पाण-भोयणं ।
भद्दगं भद्दगं भोच्चा विवण्णं विरसमाहरे ॥
जाणंतु ता इमे समणा आययट्ठी अयं मुणी ।
संतुट्ठो सेवई पंतं लहवित्ती सुतोसओ ॥
पूयणट्ठी जसोकामी माण-सम्माण-कामए ।
बहुं पसवई पावं मायासल्लं च कुव्वई ॥

अर्थ—वन्दना करते हुए किसी भी स्त्री या पुरुष, बालक या वृद्ध से साधु किसी भी प्रकार की याचना न करे। तथा आहारादि न देने पर उससे कठोर वचन न कहे।

(३०)

चौपाई— नहिं नमते पर रोस न आनै, वंदन तें महिमा नहिं मानै।
या प्रकार अन्वेषण करई, ताको संजम अचल ठहरई॥

अर्थ—जो गृहस्थ वन्दना न करे, उस पर क्रोध न करे और यदि राजा-महाराजा आदि बड़े पुरुष वन्दना करें तो अभिमान भी न करे। इसप्रकार गोचरी का अन्वेषण करनेवाले साधु का श्रमणपना निर्मल और स्थिर रहता है।

(३१—३२)

चौपाई— कबहूं कोइ अकेलो संजति, करै सरस भोजन की प्रापति।
अइस अहारनि ताकों ढाके, ऐसो लोभ ऊपज्यों जाके॥
गुरु कों यह दिखलाऊं जोई, वे सब लेयं, देय नहिं मोई।
सो पेटार्थी है निज धापी, करै पाप बहु धर्म-ऊथापी॥
सो संतोष-हीन ही होई, जाय सकै निरवान न सोई।
तातें साधु बने संतोषी, न्यायवृत्ति सों निज तन-पोषी॥

अर्थ—कदाचित् कोई एक मुनि सरस आहार पाकर उसे आचार्य आदि को दिखाने पर वह स्वयं न ले लेवे—इस लोभ से छिपा लेता है तो वह पेटार्थी—अपना ही पेट भरने वाला लोभी साधु बहुत पाप का उपार्जन करता है। ऐसा असं-तोषी साधु निर्वाण (मोक्ष) नहीं पा सकता।

(३३—३४—३५)

चौपाई— जो पै आप अकेलो जाई, विविध पान भोजन कों पाई।
भले भले चुन आपहि खावै, बिवरन विरस लिये थल आवै॥
ऐसे भाव हिये वह आनै, ए सब स्त्रमन मोहि यों जानै।
संतोषी सुतोष मुनि एहा, रूक्षवृत्ति वरजित सुख-नेहा॥
अस असार जो भक्षणहारो, खरो मुकति-पद-इच्छन-हारो।
पूजार्थी जस-वांछक जोई, चहै मान-सन्मानि सोई॥
बहुत पाप अर्जन सो करई, माया सल्ल अपन-उर धरई।
सो पावै कैसे निरवान, जाके है ऐसा छल-मान॥

संस्कृत— स्यादेकको लब्ध्वा विविधं पान-भोजनम् ।
भद्रकं भद्रकं भुक्त्वा विवर्णं विरसमाहरेत् ॥
जानन्तु तावदिमे श्रमणा आयतार्थी अयं मुनिः ।
सन्तुष्टः सेवते प्रान्तं रूक्षवृत्तिः सुतोषकः ॥
पूजनार्थी यशोकामी मान - सन्मान - कामकः ।
बहु प्रसूते पापं मायाशल्यं च करोति ॥

(३६)

मूल— **सुरं वा मेरगं वावि अन्नं वा मज्जगं रसं ।**
ससक्खं न पिबे भिक्खू जसं सारक्खमप्पणो ॥

संस्कृत— सुरां वा मेरकं वापि अन्यद्वा माद्यकं रसम् ।
स्व-(स) साक्ष्यं न पिबेद् भिक्षुः यशः संरक्षन्नात्मनः ॥

(३७)

मूल— **सिया एगइओ तेणो न मे कोइ वियाणई ।**
तस्स पस्सह दोसाइं नियडिं च सुणेह मे ॥

संस्कृत— पिबति एककः स्तेन न मां कोऽपि विजानाति ।
तस्य पश्यत दोषान् निकृतिं च शृणुत मम ॥

(३८)

मूल— **वड्ढई सोंडिया तस्स माया मोसं च भिक्खुणो ।**
अयसो य अनिव्वाणं सययं च असाहुया ॥

संस्कृत— वर्धते शौण्डिता तस्य माया मृषा च भिक्षोः ।
अयशश्चानिर्वाणं सततं च असाधुता ॥

(३९)

मूल— **णिच्चुव्विग्गो जहा तेणो अत्तकम्मेहि दुम्मई ।**
तारिसो मरणंते वि नाराहेइ संवरं ॥

संस्कृत— नित्योद्विग्नो यथा स्तेनः आत्मकर्मभिर्दुर्मतिः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि नाराधयति संवरम् ॥

अर्थ—कदाचित् कोई एक मुनि विविध प्रकार के भोजन-पान पाकर और कहीं एकान्त में बैठकर अच्छे-अच्छे पदार्थ खाकर विवर्ण और विरस आहार को स्थान पर यह सोचकर लाता है कि 'ये श्रमण मुझे बड़ा आत्मार्थी और मोक्षार्थी समझें', संतोषी और प्रान्त (असार) भोजी समझें, रूखा-सूखा खाने वाला और प्राप्त जिस किसी भी वस्तु से सन्तुष्ट होने वाला समझें। तो वह पूजा का आर्थी यश का वांछक और मान-सन्मान की कामना करने वाला मुनि बहुत पाप का उपार्जन करता है और माया-शल्य को करता है।

(३६)

दोहा—मदिरा मेरक और हू, जे मादक रस आंहि ।
निज जस राखत साखि-जुत, भिक्षुक पीवै नांहि ॥

अर्थ—अपने संयम का संरक्षण करता हुआ साधु सुरा (जौ आदि की पिट्ठी से बनी मदिरा), मेरक (महुआ से बनी मदिरा) या अन्य किसी प्रकार का रस आत्म-साक्षी से न पीवे।

(३७)

दोहा—पियै अकेलो चोर जो, मोहि न जानत कोय ।
लखिय, दोस तसु हाल पुनि, मोसों सुनिये सोय ॥

अर्थ—यहां मुझे कोई भी नहीं जानता है, यह विचारता हुआ यदि कोई अकेला मुनि एकान्त में स्तेनवृत्ति से (चोरी-छिपे) मदिरा को पीता है, तो उसके दोषों को देखो और मैं उसके मायाचार को कहता हूं सो सुनो।

(३८)

दोहा—कपट झूठता भिक्षु के, लोलुपता बढ़ि जाय ।
अजस अतोस असाधुता, ताके सदा रहाय ॥

अर्थ—मदिरा-पान करनेवाले साधु के उन्मत्तता, मायाचारिता, मृषावादिता अपयश, अतृप्ति और असाधुता—ये दोष उत्तरोत्तर बढ़ने लगते हैं।

(३९)

दोहा—उचट्यौ रहत सु चोर जिमि, कुमति करन निज तेह ।
मरनंत हु तैसो कहूं, सकत न संवर सेइ ॥

अर्थ—वह दुर्मति अपने दुष्कर्मों से चोर के समान सदा उद्विग्न रहता है। मदिरा-पायी मुनि मरणान्त-काल में भी संवर की आराधना नही कर पाता है। (प्रत्युत दारुण दुष्कर्मों का आस्रव करता है)।

(४०)

मूल— आयरिए नाराहेइ समणे यावि तारिसो ।
गिहत्था वि णं गरहंति जेण जाणंति तारिसं ॥

संस्कृत— आचार्यान्नाराधयति श्रमणानपि तादृशः ।
गृहस्था अप्येनं गर्हन्ते येन जानन्ति तादृशम् ॥

(४१)

मूल— एवं तु अगुणप्पेही गुणाणं च विवज्जओ ।
तारिसो मरणंते वि नाराहेइ संवरं ॥

संस्कृत— एवं तु अगुणप्रेक्षी गुणानां च विवर्जकः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि नाराधयति संवरम् ॥

(४२)

मूल— तवं कुव्वइ मेहावी पणीयं वज्जए रसं ।
मज्जप्पमायविरओ तवस्सी अइउक्कसो ॥

संस्कृत— तपः करोति मेधावी प्रणीतं वर्जयेद् रसम् ।
मद्यप्रमादविरतः तपस्वी अत्युत्कर्षः ॥

(४३)

मूल— तस्स पस्सह कल्लाणं अणेगसाहुपूइयं ।
विउलं अत्थसंजुत्तं कित्तइस्सं सुणेह मे ॥

संस्कृत— तस्य पश्यत कल्याणं अनेकसाधुपूजितम् ।
विपुलमर्थसंयुक्तं कीर्तयिष्ये शृणुत मम ॥

(४४)

मूल— एवं तु गुणप्पेही अगुणाणं विवज्जओ ।
तारिसो मरणंते वि आराहेइ संवरं ॥

संस्कृत— एवं तु गुणप्रेक्षी अगुणानां विवर्जकः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि आराधयति संवरम् ॥

(४०)

चौपाई— **आचारज न अराधत ऐसो, श्रमनहुं को सेवत नहिं तैसो ।**
गृही लोग हू गरहत वाकों, भली भाँति जे जानत जाकों ।।

अर्थ—ऐसा मद्यपायी साधु न तो आचार्य की आराधना कर पाता है और न श्रमणों की भी । गृहस्थ भी उसे शराबी जानते हैं, इसलिए वे भी उसकी गर्हा-निन्दा करते हैं ।

(४१)

दोहा—या विधि जे अवगुन भजैं, तजैं सु गुन गन जेय ।
मरनंत हु तैसो कहूँ, संवर सकैंत न सेय ।।

अर्थ—इस प्रकार से अवगुणों का सेवन करने वाला और गुणों का त्याग करने वाला मुनि मरणान्त-काल में भी संवर की आराधना नहीं कर पाता है । (प्रत्युत महा दुष्कर्मों का आस्रव करता है ।)

(४२)

चौपाई— **बुद्धिमान तपकों आचरै, सरस मधुर भोजन परिहरै ।**
मद प्रमाद राचै नहिं जोय, अति उत्कृष्ट तपस्वी सोय ।।

अर्थ—किन्तु जो बुद्धिमान् तपस्वी साधु मधुर पौष्टिक रस का त्याग करता है, मद्य-पान से विरत और प्रमाद से रहित होता है, वह अति उत्कृष्ट साधु है ।

(४३)

चौपाई— **देखहु तुम ताके कल्यान, त्रिविध साधु-पूजित सो जान ।**
बहुत अरथ जस-संजुत तेह, गुन वरनों-मोसों सुनि लेह ।।

अर्थ—ऐसे उक्त उत्कृष्ट साधु का अनेक साधु-जनों से प्रशंसित विशाल, अर्थ-संयुक्त कल्याण स्वयं देखो और मैं उनका कीर्तन करूंगा सो सुनो ।

(४४)

दोहा—या विधि जो गुन-गन भजै, तजै सु औगुन जेय ।
मरनंत हु तैसो मुनी, सकै सु संवर सेय ।।

अर्थ—इस प्रकार गुणों का सेवन करने वाला और अवगुणों का वर्जन करने वाला शुद्ध भोजी साधु मरणान्त-काल में भी संवर की आराधना करता है ।

(४५)

मूल— आयरिए आराहेइ समणे यावि तारिसो ।
गिहत्था वि णं पूयंति जेण जाणंति तारिसं ॥

संस्कृत— आचार्यानाराधयति श्रमणांश्चापि तादृशः ।
गृहस्था अप्येनं पूजयन्ति येन जानन्ति तादृशम् ॥

(४६)

मूल— तव तेणे वय तेणे रूवतेणे य जे णरे ।
आयार-भावतेणे य कुव्वइ 'देवकिव्विसं ॥

संस्कृत— तपस्तेनः वचःस्तेनः रूपस्तेनस्तु यो नरः ।
आचार-भावस्तेनश्च करोति दैव-किल्विषम् ॥

(४७)

मूल— लद्धूण वि देवत्तं उववन्नो देवकिव्विसे ।
तत्था वि से ण याणाइ किं मे किच्चा इमं फलं ॥

संस्कृत— लब्ध्वापि देवत्वं उपपन्नो दैवकिल्विषे ।
तत्रापि स न जानाति किं मे कृत्वा इदं फलम् ॥

(४८)

मूल— तत्तो वि से चइत्ताणं लब्भिही एलमूययं ।
नरयं तिरिक्खजोणिं वा बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥

संस्कृत— ततोऽपि स च्युत्वा लप्स्यते एडमूकताम् ।
नरकं तिर्यग्योनिं वा बोधिर्यत्र सुदुर्लभा ॥

(४९)

मूल— एयं च दोसं दट्ठूणं नायपुत्तेण भासियं ।
अणुमायं पि मेहावी माया-मोसं विवज्जए ॥

संस्कृत— एनं च दोषं दृष्ट्वा ज्ञातपुत्रेण भाषितम् ।
अणुमात्रमपि मेधावी माया-मृषा विवर्जयेत् ॥

(४५)

चौपाई— आचारज हु अराधत ऐसो, स्रमनहुं कों पुनि सेवत तैसो।
गृही लोग हू पूजत ताकों, भली भाँति जे जानत जाकों॥

अर्थ—उक्त गुणों का धारक साधु आचार्य की आराधना करता है और श्रमणों की भी। गृहस्थ भी उसे शुद्धभोजी मानते हैं और इसलिए वे उसकी पूजा करते हैं।

(४६)

चौपाई - वचन-चोर तप-चोर जु कोई, रूप-चोर पुनि जो नर होई।
भाव-चोर आचार हु चोरा, लहै देव किलविस-गति घोरा॥

अर्थ—जो साधु तप का चोर, वाणी का चोर, रूप (वेष) का चोर, आचार का चोर और भाव का चोर होता है वह किल्विषिक देव-योग्य कर्म करता है, अर्थात् मरकर किल्विषिक जाति के नीच देवों में उत्पन्न होता है।

(४७)

चौपाई तहां देवगति हूं को पाई, उपजं देव किलविसी जाई।
तहं हु न जानि सकत सो भावा, 'का करिके यह फल मैं पावा'॥

अर्थ—किल्विषिक देवों उत्पन्न होकर और देवपर्याय पाकर भी वहां वह यह नहीं जान पाता कि यह मेरे किस कर्म का फल है?

(४८)

चौपाई— वा गति तें चवि के पुनि वहई, मेस - मूक - मानवता लहई।
नारक वा तिरिख को जोनी, जहाँ बोधि दुरलभ है—होनी॥

अर्थ— उस देवपर्याय से च्युत होकर यहां मनुष्य गति में आकर एडमूकता अर्थात् भेड़ों के समान गूंगेपन को प्राप्त करता है, अथवा तिर्यंचगति में जन्म लेता है और (पुनः पाप करके) नरक में जाता है जहाँ पर बोधि (सम्यक्त्व) की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है।

(४९)

चौपाई — या प्रकार दूषन लखि एई, ज्ञातपुत्र नें वरने जेई।
माया मिरषावाद लगारा, वरजें बुद्धिमान अनगारा॥

अर्थ—इस प्रकार के दोषों को देखकर ज्ञातपुत्र महावीर ने कहा - मेधावी मुनि अणुमात्र भी माया-मृषा न करें अर्थात् न मायाचार करें और न झूठ बोलें।

(५०)

मूल— सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं संजयाण बुद्धाण सगासे।
तत्थ भिक्खू सुप्पणिहिंदिए तिव्वलज्जं गुणवं विहरेज्जासि ॥

—त्ति बेमि

संस्कृत— शिक्षित्वा भिक्षैषणाशुद्धिं संयतानां बुद्धानां सकाशे ।
तत्र भिक्षुः सुप्रणिहितेन्द्रियः तीव्रलज्जो गुणवान् विहरेत् ॥

—इति ब्रवीमि

पंचमं पिंडेसणा अज्झयणं सम्मत्तं

(५०)

कवित्त—

भली भांति जीति जिन इंद्रिय अधीन कीनी, तीव्र लाज लोनी गुन संजम के जामें है,
ऐसो वह साधु सो अराधै उन संजतिकों, संजति महान तत्त्व के ज्ञान जुठामें हैं।
भली भांति सीख लेय भीख सोधिवे की रीति, ताकों वह जानिके अनंद उर पाये हैं,
ताके अनुसार तब गहत आदि करत विहार विचरत गुणवंत जस गाये हैं।

अर्थ—संयत और बुद्ध श्रमणों के समीप भिक्षैषणा की विशुद्धि सीख कर सुप्रणिहित-इन्द्रिय अर्थात् जितेन्द्रिय और एकाग्र चित्त वाला भिक्षु उत्कृष्ट संयम और गुण से सम्पन्न होकर विचरे।

इस प्रकार मैं कहता हूं।

पंचम पिंडेषणा अध्ययन समाप्त

छट्ठं महायारकहा अज्झयणं

(१—२)

मूल— नाण-दसणसंपन्नं संजमे य तवे रयं ।
गणिमागमसंपन्नं उज्जाणम्मि समोसढं ॥
रायाणो रायमच्चा य माहणा अदुव खत्तिया ।
पुच्छंति निहुअप्पाणो कहं भे आयारगोयरो ॥

संस्कृत— ज्ञान-दर्शनसम्पन्नं संयमे च तपसि रतम् ।
गणिमागमसम्पन्नं उद्याने समवसृतम् ॥
राजानो राजामात्याश्च ब्राह्मणा अथवा क्षत्रियाः ।
पृच्छन्ति निभृतात्मानः कथं भवतामाचारगोचरः ॥

(३)

मूल— तेसिं सो निहुओ दंतो सव्वभूयसुहावहो ।
सिक्खाए सुसमाउत्तो आइक्खइ वियक्खणो ॥

संस्कृत— तेभ्यः स निभृतो दान्तः सर्वभूतसुखावहः ।
शिक्षया सुसमायुक्तः आख्याति विचक्षणः ॥

(४)

मूल— हंदि धम्मत्थकामाणं निग्गंथाणं सुणेह मे ।
आयारगोयरं भीमं सयलं दुरहिट्ठियं ॥

संस्कृत— हंदि धर्मार्थकामनां निर्ग्रन्थानां शृणुत मम ।
आचारगोचरं भीमं सकलं दुरधिष्ठितम् ॥

छठा महाचारकथा अध्ययन

(१-२)

दोहा **ज्ञान तथा दरसन-सहित, तप संजम में लीन ।**
आगम में परवीन जे, गणि उपवन-आसीन ।।
तिनसों पूछत अमल-मति, महिपति महिप-प्रधान ।
द्विज वा क्षत्रिय, आपकौ को अचारन-विधान ।।

अर्थ—ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न, संयम और तप में रत, आगम-सम्पदा से युक्त प्राणी को उद्यान में समवसृत (आया हुआ) देख, राजा और राज-मंत्री, ब्राह्मण और क्षत्रिय उनसे नम्रता-पूर्वक पूछते हैं—'आपके आचार का विषय कैसा है ?'

(३)

चौपाई— **तिनसों वह एकान्त उपासी, मुनि दमसील अभय सुख-रासी ।**
सकल जंतु-हित-कारक स्वामी, सत्-शिक्षा-संजुत शिव-गामी ।।
परम प्रवीन कहत यहि भाँती, अहो अहो पृच्छक-गन-पांती ।
सुनो सुनो भो भविजन स्वच्छा, तुमरी यह हितकर पृच्छा ।।

अर्थ—ऐसा पूछे जाने पर वे स्थिरात्मा, इन्द्रियदमी, सब प्राणियों के लिए सुखावह शिक्षा में समायुक्त और विचक्षण गणी उनसे कहते हैं—

(४)

चौपाई— **धरम-अरथ-इच्छुक निरग्रन्था, मो सों सुनो तिननको पंथा ।**
आचार हु गोचर अति बांको, सब ही कठिन अराधन जाको ।।

अर्थ—हे देवानुप्रियो, श्रुत-चारित्र रूप धर्म और मोक्षरूप अर्थ के अभिलाषी निर्ग्रन्थ मुनियों का समस्त आचार-गोचर—जो कि कर्मरूप शत्रुओं के लिए भयंकर है, तथा जिसे धारण करने में कायर पुरुष घबराते हैं, उसका मैं वर्णन करता हूं, सो तुम लोग सावधान होकर सुनो।

(५)

मूल— नन्नत्थं एरिसं वुत्तं जं लोए परमदुच्चरं ।
विउलट्ठाणभाइस्स न भूयं न भविस्सई ॥

संस्कृत— नान्यत्र ईदृशमुक्तं यल्लोके परमदुश्चरम् ।
विपुलस्थानभागिनः न भूतं न भविष्यति ॥

(६)

मूल— सखुड्डगवियत्ताणं वाहियाणं च जे गुणा ।
अखंडफुडिया कायव्वा तं सुणेह जहा तहा ॥

संस्कृत— सक्षुल्लकव्यक्तानां व्याधितानां च ये गुणाः ।
अखण्डा स्फुटिताः कर्तव्याः तान् शृणुत यथा तथा ॥

(७—८)

मूल— दस अट्ठ य ठाणाइं जाइं बालोवरज्झई ।
तत्थ अन्नयरे ठाणे णिग्गंथत्ताओ भस्सई ॥
वयछक्कं कायछक्कं अकप्पो गिहिभायणं ।
पलियंकं निसेज्जा य सिणाणं सोहवज्जणं ॥

संस्कृत— दशाष्टौ च स्थानानि यानि बालोऽपराध्यति ।
तत्रान्यतरस्मिन् स्थाने निर्ग्रन्थत्वाद् भ्रश्यति ॥
व्रतषट्कं कायषट्कं अकल्पो गृहिभाजनम् ।
पर्यङ्को निषद्या च स्नानं शोभा-वर्जनम् ॥

(५)

चौपाई— बहुत थान-सेविन को जैसो, पंथ परम दुसचर है तैसो ।
लोक हु में अस भयो न होई, कह्यौ नहीं दूजे थल कोई ॥

अर्थ—मानव-जगत् के लिए इस प्रकार का अत्यन्त दुष्कर आचार निर्ग्रन्थ-दर्शन के अतिरिक्त कहीं नहीं कहा गया है । मोक्ष स्थान की आराधना करने वाले के लिए ऐसा आचार अतीत में न कहीं था और न कहीं भविष्य में होगा ।

(६)

चौपाई— जे अखंड अस्फुट करनीया, बाल-वृद्ध रोगिहुँ धरनीया ।
ते गुन जा प्रकार करि होई, ता प्रकार सों सुनिये सोई ॥

अर्थ—बाल-वृद्ध, स्वस्थ और अस्वस्थ सभी मुमुक्षुओं को जिन गुणों की आराधना अखण्ड एवं निर्दोष रूप से करनी चाहिए, उसे यथातथ्य रूप से सुनो ।

(७-८)

चौपाई— अष्टादश थानक ए जानो, इनकरि दूषित होत अयानो ।
तिनमें एक हु थानक पाई, साधुपने से च्युत ह्वै जाई ॥

दोहा— व्रत अरु काया-षट्क ये, वा अकल्प गृहि पात्र ।
पलंग निषद्या स्नान औ, शोभा नहिं लवमात्र ॥
ये अट्ठारह थान हैं, इनसे बचि मुनिराज ।
लहु शिवपद को लेत है, ह्वै कर जग-सिर-ताज ॥

वे अट्ठारह स्थान इस प्रकार हैं—

कवित्त—

सा[१] झूठ[२] चोरी[३] औ कुसील[४] परिग्रह[५] अरु, राति[६] को अहार छार पालें छह व्रत हैं,
ती[७] पय[८] पावक[९]-पवन[१०] हरियारी[११] त्रस[१२], एती खट काया को आरंभ वरजत हैं ।
ा के भाजन[१३] हू में भोजन कबहुं न करे, पलंग[१४] प्रमुख गृहि-आसन[१५] तजत हैं,
सनान[१६] सरीर-सोभा[१७] और जो अकलपनीय,[१८] तिनकों गहे न संत संजय सजत हैं।

अर्थ – जो विवेक-विलुप्त व्यक्ति संपूर्ण अष्टादश स्थानों की तथा किसी भी एक स्थान की विराधना करता है, वह साधुता के सर्वोच्च पद से संभ्रष्ट हो जाता है । सच्चा साधु छह व्रतों तथा षट्काय के जीवों का पालन करे तथा अकल्पनीय पदार्थ, गृहस्थों के पात्रों में भोजन, पर्यङ्क पर बैठना, गृहस्थों के घरों में एवं गृहस्थों के आसनों पर बैठना, स्नान करना और शरीर की विभूषा करना—ये सब सर्वथा-त्याग देता ।

(९)

मूल— तत्थिमं पढमं ठाणं महावीरेण देसियं ।
अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो ।।

संस्कृत— तत्रेदं प्रथमं स्थानं महावीरेण देशितम् ।
अहिंसा निपुणं दृष्टा सर्वभूतेषु संयमः ।।

(१०—११)

मूल— जावंति लोए पाणा तसा अदुव थावरा ।
ते जाणमजाणं वा न हणे णो वि घायए ।।
सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं ।।

संस्कृत— यावन्तो लोके प्राणाः त्रसा अथवा स्थावराः ।
तान् जानन्नजानन् वा न हन्यान्नोऽपि घातयेत् ।।
सर्वे जीवा अपीच्छन्ति जीवितुं न मर्तुम् ।
तस्मात् प्राणिवधं घोरं निर्ग्रन्था वर्जयन्ति णं ।।

(१२—१३)

मूल— अप्पणट्ठा परट्ठा वा कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसगं न मुसं बूया नो वि अन्नं वयावए ।।
मुसावाओ य लोगम्मि सव्वसाहूहिं गरहिओ ।
अविस्सासो य भूयाणं तम्हा मोसं विवज्जए ।।

संस्कृत— आत्मार्थं परार्थं वा क्रोधाद्वा यदि वा भयात् ।
हिंसकं न मृषा ब्रूयात् नोऽप्यन्यं वादयेत् ।।
मृषावादश्च लोके सर्वसाधुभिर्गर्हितः ।
अविश्वासश्च भूतानां तस्मान्मृषा विवर्जयेत् ।।

(१४—१५)

मूल— चित्तमंतमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमेत्तं पि ओग्गहंसि अजाइया ।।
तं अप्पणा न गेण्हंति नो वि गेण्हावए परं ।
अन्नं वा गेण्हमाणं पि नाणुजाणंति संजया ।।

(९)

दोहा— तिनमें पहिलो थानक एहा, महावीर उपदेस्यो जेहा ।
देखी निपुन अहिंसा सोई, सब भूतनि में संजम होई ।।

अर्थ—भगवान महावीर ने उन अठारह स्थानों में पहिला स्थान अहिंसा का कहा है । इसे उन्होंने अनन्त सुखों को देने वाली के रूप में देखा है । सर्वप्राणियों के प्रति संयम रखना अहिंसा है ।

(१०—११)

दोहा चर अथवा थावर अहैं, जेते जन्तु जहान ।
हनैं हनावैं तिनहिं नहिं, जान तथा अनजान ।।
सकल जंतु जीवन चहैं, मरन चहै नहिं कोय ।
घोर प्रानिबध ताहितें, बरजत संजति लोय ।।

अर्थ—लोक में जितने भी त्रस अथवा स्थावर प्राणी हैं, निर्ग्रन्थ साधु जान या अजान में न उनका हनन करे और न पर से करावे ।

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता । इसलिए जीव-घात को भयानक जानकर निर्ग्रन्थ उसका त्याग करते हैं ।

(१२—१३)

चौपाई— अपने तथा अपर के हेतु, कोप-काज वा डर के हेतु ।
पर-पीड़क असत्य नहिं कहिये, नहिं पर सों कहलाना चहिये ।।
मृषा-वचन हू लोकनि माहीं, सब साधुनि करि निन्दित आहीं ।
सबको अविसवास-विस्तारन, मृषावाद तजिये तिहि कारन ।।

अर्थ—निर्ग्रन्थ साधु को चाहिए कि वह अपने या दूसरों के लिए क्रोध से, या भय से पर-पीड़ाकारक एवं असत्य वचन न बोले और न दूसरों से बुलवाये । इस लोक में मृषावाद सब साधुओं द्वारा गर्हित (निन्दित) है । और वह प्राणियों के लिए अविश्वसनीय है । अतः निर्ग्रन्थ साधुजन असत्य न बोलें ।

(१४—१५)

चौपाई— चेतन तथा अचेतन कोई, अधिक होय, अलप हु वा होई ।
तृण हू ले न दंत-शोधन को, बिनु जाचे अधिकारी जन को ।।
गहै न आप साधुजन ताकों, और हु कों न गहावहि वाकों ।
और हु वाकों गहि ले ही, ते न भलो जानत हैं तेही ।।

संस्कृत— चित्तवदचित्तं वा अल्पं वा यदि वा बहु ।
दन्तशोधनमात्रमपि अवग्रहे अयाचित्वा ।
तदात्मना न गृह्णन्ति नापि ग्राहयन्ति परम् ।
अन्यं वा गृह्णन्तमपि नानुजानन्ति संयताः ॥

(१६—१७)

मूल— अबंभचरियं घोरं पमाय दुरहिट्ठियं ।
नायरंति मुणी लोए भेयाययणवज्जिणो ॥
मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

संस्कृत— अब्रह्मचर्यं घोरं प्रमादं दुरधिष्ठम् ।
नाचरन्ति मुनयो लोके भेदायतनवर्जिनः ॥
मूलमेतद् अधर्मस्य महादोषसमुच्छ्रयम् ।
तस्मात् मैथुनसंसर्गं निर्ग्रन्था वर्जयन्ति ॥

(१८—१९)

मूल— विडमुब्भेइमं लोणं तेल्लं सप्पिं च फाणियं ।
न ते सन्निहिमिच्छंति, नायपुत्त - वओरया ॥
लोभस्सेसो अणुफासो मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहीकामे गिही पव्वइए न से ॥

संस्कृत— विडमुद्भेद्यं लवणं तैलं सर्पिश्च फाणितम् ।
न ते सन्निधिमिच्छंति ज्ञातपुत्र - वचोरताः ॥
लोभस्यैषोऽनुस्पर्शः मन्येऽन्यतरदपि ।
यः स्यात्सन्निधिकामः गृही प्रव्रजितो न सः ॥

(२०—२१)

मूल— जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं
तं पि संजम-लज्जट्ठा धारंति परिहरंति य ॥
न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा ॥

अर्थ—संयमी मुनि सजीव या निर्जीव, अल्प या बहुत वस्तु को, यहां तक कि दांतों का मल-शोधन करने के लिए तिनके को भी उसके स्वामी की आज्ञा के बिना स्वयं ग्रहण नहीं करते, दूसरों से भी ग्रहण नहीं कराते और ग्रहण करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करते हैं।

(१६—१७)

चौपाई— ब्रह्मचर्य - भंजन भयकारी, जो प्रमाद-सेवन, हित-हारी।
भेद-थान-वरजक जगमाहीं, मुनिवर ताहि आचरत नाहीं॥

दोहा— यह अधर्म को मूल है, महादोष को थोक।
यातें मैथुन-संग को, वरजत हैं मुनि लोक॥

अर्थ—भेदस्थानकवर्जी—पापभीरु मुनि संसार में रहते हुए भी दुःसेव्य तथा प्रमादभूत रौद्र अब्रह्मचर्य का कदापि आचरण नहीं करते हैं। यह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है तथा महादोषों का समूह है, इसलिये निर्ग्रन्थ इस मैथुन के संसर्ग का सर्वथा परित्याग करते हैं।

(१८—१९)

दोहा—विड़ वा सागर-लोन घी, गलित गुडादि सनेह।
तिनको संचय न हि चहत, वीर-वचन - रत जेह॥
यह लोभहि की लगन है, मानत और हु लोय।
वासी राखै सो गृही, सो संजति न हि होय॥

अर्थ—जो ज्ञातपुत्र महावीर के वचनों में रत हैं, वे मुनि विडलवण (गोमूत्र आदि में पकाकर तैयार किया नमक), उद्भेद्य लवण (समुद्र के पानी से बनाया गया सामुद्री नमक), तेल, घी और फाणित (द्रव गुड़) को संग्रह करने की इच्छा नहीं करते। जो भी संग्रह किया जाता है, वह लोभ का ही प्रभाव है, ऐसा मैं मानता हूं। जो श्रमण किंचिन्मात्र भी संग्रह करने की इच्छा करते हैं, वह गृहस्थ हैं, प्रव्रजित नहीं। अर्थात् संग्रह का अभिलाषी पुरुष साधु कहलाने के योग्य नहीं है।

(२०—२१)

चौपाई— जदपि वसन भाजन विधि नाना, कंबल पग-पूंछन परिमाना।
ते परिहरत, करत मुनि धारन, केवल संजम-लाज-निवारन॥
ताहि 'परिग्रह' कहि न पुकारो, ज्ञात-पुत्र जग-रच्छन-हारो।
ममताभाव परिग्रह भाख्यौ, ऐसो महरिसिनि ने आख्यौ॥

संस्कृत— यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा कम्बलं पादप्रोञ्छनम् ।
तदपि संयम-लज्जार्थं धारयन्ति परिदधते च ।।
न स परिग्रह उक्तः ज्ञातपुत्रेण त्रायिणा (तायिना) ।
मूर्च्छा परिग्रह उक्त इत्युक्तं महर्षिणा ।।

(२२)

मूल— सव्वत्थुवहिणा बुद्धा संरक्खणपरिग्गहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि नायरंति ममाइयं ।।

संस्कृत— सर्वत्रोपधिना बुद्धाः संरक्षणाय परिगृह्णन्ति ।
अप्यात्मनोऽपि देहे नाचरन्ति ममायितम् ।।

(२३)

मूल— अहो निच्चं तवोकम्मं सव्वबुद्धेहिं वण्णियं ।
जा य लज्जासमा वित्ती एगभत्तं च भोयणं ।।

संस्कृत— अहो नित्यं तपःकर्म सर्वबुद्धैर्वर्णितम् ।
या च लज्जासमा वृत्तिः एकभक्तं च भोजनम् ।।

(२४—२५—२६)

मूल— सन्ति मे सुहुमा पाणा तसा अदुव थावरा ।
जाइं राओ अपासंतो कहमेसणियं चरे ।।
उदउल्लं बीयसंसत्तं पाणा निवडिया महिं ।
दिया ताइं विवज्जेज्जा राओ तत्थ कहं चरे ।।
एयं च दोसं दट्ठूणं नायपुत्तेण भासियं ।
सव्वाहारं न भुंजंति निग्गंथा राइभोयणं ।।

संस्कृत— सन्तीमे सूक्ष्माः प्राणाः त्रसा अथवा स्थावराः ।
यान् रात्रौ अपश्यन् कथमेषणीयं चरेत् ।।
उदकार्द्रं बीजसंसक्तं प्राणाः निपतिता मह्याम् ।
दिवा तान् विवर्जयेद् रात्रौ तत्र कथं चरेत् ।।
एनं च दोषं दृष्ट्वा ज्ञातपुत्रेण भाषितम् ।
सर्वाहारं न भुञ्जते निर्ग्रन्था रात्रिभोजनम् ।।

अर्थ—जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और पाद-पोंछन रजोहरण आदि हैं, उन्हें मुनि संयम की रक्षा के लिए और लज्जा का निवारण करने के लिए ही रखते और उनका उपयोग करते हैं। अतः सब जीवों के रक्षक भगवान् महावीर ने वस्त्र आदि को परिग्रह नहीं कहा है, किन्तु मूर्च्छा या गृद्धिभाव को परिग्रह कहा है, ऐसा महर्षि गणधर ने कहा है।

(२२)

चौपाई— संजम-राखन-कारन लीनी, सब विधि उपधि ग्रहन जो कीनो।
तामें, तथा आपने तन में, नहिं आनत ममता मुनि मन में॥

अर्थ—प्रबुद्ध मुनि सर्वत्र उपधि को संयम की रक्षा के लिए ही ग्रहण करते हैं, किन्तु मूर्च्छा भाव से नहीं। और तो क्या, वे संयमी मुनि अपने देह पर भी ममत्व भाव नहीं रखते हैं।

(२३)

चौपाई— अहो नित्य तप ही को करनो, सकल बुद्ध देवनि करि वरनो।
एक वेर भोजन को करनो, संजम समवृत्ती को धरनो॥

अर्थ—अहो, सभी बुद्धों ने श्रमणों के लिए नित्य तपःकर्म (तप का अनुष्ठान) संयम के अनुकूल वृत्ति अर्थात् शरीर का पालन करने और एक वार भोजन करने का उपदेश दिया है।

(२४—२५—२६)

दोहा— ए प्रानी सूच्छम अहैं, अचर तथा चर देह।
कैसे तिनहिं न लखत मुनि, भखैं अदोस हि तेह॥

चौपाई— बीज-मिल्यो, जल-भीनो भोजन, पृथिवी ऊपर परे जंतु-गन।
दिन में हू वरजत है ऐसे, तिनमें चरै राति में कैसे॥

सोरठा— ऐसो दोस निहार, ज्ञातपुत्र ने जो कह्यौ।
सब ही भांति आहार, नहिं निग्रंथ निसि में करै॥

अर्थ—जो त्रस और स्थावर सूक्ष्म प्राणी हैं उन्हें रात्रि में नहीं देखता हुआ निर्ग्रन्थ ईर्यासमिति-पूर्वक कैसे चल सकता है? जल से गीले और बीजयुक्त भोजन तथा पृथ्वी पर पड़े हुए प्राणी, उन्हें दिनमें तो आंखों से देखकर बचाया जा सकता है, किन्तु रात्रि में उनकी रक्षा करते हुए कैसे चला जा सकता है? (इस प्रकार साधु के रात्रि-विहार और रात्रि-भोजन दोनों का निषेध है।) ज्ञातपुत्र भगवान महावीर ने इस हिंसात्मक दोष को देखकर कहा—जो निर्ग्रन्थ होते हैं वे रात्रि-भोजन नहीं करते हैं और चारों प्रकार के सभी आहारों का रात्रि में त्याग करते हैं अर्थात् रात्रि में किसी भी प्रकार का भोजन नहीं करते हैं।

(२७—२८—२९)

मूल— पुढविकायं न हिंसंति मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिया ॥
पुढविकायं विहिंसंतो हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे चक्खुसे य अचक्खुसे ॥
तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
पुढविकायसमारंभ जावज्जीवाए वज्जए ॥

संस्कृत— पृथ्वीकायं न हिंसंति मनसा वचसा कायेन ।
त्रिविधेन करणयोगेन संयताः सुसमाहिताः ॥
पृथ्वीकायं विहिंसन् हिनस्ति तु तदाश्रितान् ।
त्रसांश्च विविधान् प्राणान् चाक्षुषांश्चाचाक्षुषान् ॥
तस्मादेनं विज्ञाय दोषं दुर्गतिवर्धनम् ।
पृथ्वीकायं समारम्भं यावज्जीवं वर्जयेत् ॥

(३०—३१—३२)

मूल— आउकायं न हिंसंति मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिया ॥
आउकायं विहिंसंतो हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे चक्खुसे य अचक्खुसे ॥
तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
आउकायसमारंभं जावज्जीवाए वज्जए ॥

संस्कृत— अप्कायं न हिंसंति मनसा वचसा कायेन ।
त्रिविधेन करणयोगेन संयताः सुसमाहिताः ॥
अप्कायं विहिंसन् हिनस्ति तु तदाश्रितान् ।
त्रसांश्च विविधान् प्राणान् चाक्षुषांश्चाचाक्षुषान् ॥
तस्मादेनं विज्ञाय दोषं दुर्गतिवर्धनम् ।
अप्कायसमारम्भं यावज्जीवं वर्जयेत् ॥

(२७—२८—२९)

दोहा—मनतें वचतें कायतें, हनें न पृथिवी काय ।
संजति त्रिकरन जोगतें, जो सुसमाधित भाय ॥
हिंसत पृथिवी काय कों, हनें विविध त्रस जंत ।
नैन स-दीठ अदीठ जे, आस्रित तास रहंत ॥
तातें ऐसो दोस लखि, दुरगति-वरधन-हार ।
भूमिकाय आरम्भ करें, आजीवन परिहार ॥

अर्थ—सुसमाधिवन्त साधु मन, वचन, काय रूप त्रिविध योग से और कृत, कारित, अनुमोदन रूप तीन करण से पृथ्वीकाय की हिंसा नहीं करते, दूसरों से नहीं करवाते और करनेवालों की अनुमोदना भी नहीं करते हैं। पृथ्वीकाय की हिंसा करता हुआ मनुष्य उसके आश्रित के चाक्षुष (आंखों से दिखनेवाले) और अचाक्षुष (आंखों से नहीं दिखने वाले) ऐसे त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है। इसलिए इसे दुर्गतियों का बढ़ानेवाला दोष जान कर साधू यावज्जीवन के लिए पृथ्वीकाय के समारम्भ का त्याग करे।

(३०—३१—३२)

दोहा—मनतें वचतें कायतें, हनें नहीं जलकाय ।
संजति त्रिकरन जोगतें, जे सुसमाधित भाय ॥
हिंसत हू जलकाय कों, हनें विविध जल-जंत ।
नैन स-दीठ अदीठ जे, आस्रित तासु रहंत ॥
तातें ऐसो दोस लखि, दुरगति - वर्धन - हार ।
करें नीर-आरंभ को, आजीवन परिहार ॥

अर्थ—सुसमाधिवन्त साधु मनसे, वचनसे, कायसे—इस त्रिविध योग से और कृत कारित अनुमोदना रूप त्रिकरण से जलकाय की हिंसा नहीं करते हैं। जलकाय की हिंसा करता हुआ मनुष्य उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य) और अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनिजन यावज्जीवन के लिए जलकाय के समारम्भ का त्याग करे।

(३३—३४—३५—३६)

मूल— जायतेजं न इच्छंति पावगं जलइत्तए ।
तिक्खमन्नयरं सत्थं सव्वओ वि दुरासयं ॥
पाईणं पडिणं वा वि उड्ढं अणुदिसामवि ।
अहे दाहिणओ वावि दहे उत्तरओ वि य ॥
भूयाणमेसमाघाओ हव्ववाहो न संसओ ।
तं पईव पयावट्ठा संजया किंचि नारभे ॥
तम्हा एवं वियाणित्ता दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
तेउकायसमारंभं जावज्जीवाए वज्जए ॥

संस्कृत— जाततेजसं नेच्छन्ति पावकं ज्वालयितुम् ।
तीक्ष्णमन्यतरच्छस्त्रं सर्वतोऽपि दुराश्रयम् ॥
प्राच्यां प्रतीच्यां वापि ऊर्ध्वमनुदिक्ष्वपि ।
अधो दक्षिणतो वापि दहेदुत्तरतोऽपि च ॥
भूतानामेष आघातो हव्यवाहो न संशयः ।
तं प्रदीपप्रतापार्थं संयताः किञ्चिन्नारम्भन्ते ॥
तस्मादेनं परिज्ञाय दोषं दुर्गतिवर्धनम् ।
तेजस्कायसमारम्भं यावज्जीवं वर्जयेत् ॥

(३७—३८—३९—४०)

मूल— अनिलस्स समारम्भं बुद्धा मन्नंति तारिसं ।
सावज्जबहुलं चेयं नेयं ताईहिं सेवियं ॥
तालियंटेण पत्तेण साहाविहुयणेण वा ।
न ते वीइउमिच्छंति वीयावेऊण वा परं ॥
जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं ।
न ते वायमुईरंति जयं परिहरंति य ॥
तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
वाउ कायसमारंभं जावज्जीवाए वज्जए ॥

(३३—३४—३५—३६)

चौपाई— पाप रूप अरु तीच्छन जोई, सकल अंग आयुध-सम सोई ।
सबतें दुसह तेज-जुत आगी, जलिवो नहिं चाहत मुनि त्यागी ॥

पद्धरी— पूरव अथवा पच्छिमेहु होय, अध ऊरध वा विदिसा हु कोय ।
दच्छिन उत्तर कित हूं निहार, यह परसि करति सब जारि छार ॥
पावक है प्रानंनि को प्रहार यामें कछु संसय नहिं निहार ।
दीपक वा तापन-हेतु याहि, संजति किंचित हू गहै नाहि ॥

दोहा— तातें ऐसो दोस लखि, दुरगति - वर्धन - हार ।
करै अगनि-आरंभ को, आजीवन परिहार ॥

अर्थ— संयमी मुनि कभी भी अग्नि को जलाने की इच्छा नहीं करते हैं क्योंकि यह पापकारी है । यह अन्य शस्त्रों की अपेक्षा अति तीक्ष्ण शस्त्र है और सर्व ओर से दुराश्रय है अर्थात् उसे सहन करना अति कठिन है । यह पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व और अधोदिशा में तथा विदिशाओं में रहे हुए जीवों को जलाती है । निश्चय से यह हृव्यवाह (अग्नि) जीवों के लिए भारी आघात पहुँचाती है, इसमें कोई संशय नहीं है । साधु इससे प्रकाश पाने और शरीर तपाने के लिए इसका कुछ भी आरम्भ न करे । यह अग्नि जीव-विघातक है, यह दुर्गति-वर्धक महादोष-कारक है, ऐसा जानकर संयमी यावज्जीवन के लिए अग्निकाय के समारम्भ का त्याग करे ।

(३७—३८—३९—४०)

पद्धरी— आरंभ अनिलको ता-समान, मानत हैं पूरन ज्ञानवान ।
जे सट्काया के त्रान आहि, लखि बहु सदोस सेवैं न आहिं ॥

दोहा— तालविजन तें पत्र तें, साख-धुननतें होय ।
विजनो चहै न औरतें, विजवानो मुनि लोय ॥
पद-पूछन कंबल तथा, भाजन वसन जु होय ।
पवन न प्रेरत इनहु तें, जतन निधारत सोय ॥
तातें ऐसो दोस लखि, दुरगति - वर्धन - हार ।
करै अनल आरंभ को, आजीवन परिहार ॥

अर्थ—तीर्थंकर भगवन्त वायु के समारम्भ को अग्नि-समारम्भ के समान ही पापकारक मानते हैं । यह वायु-समारम्भ प्रचुर सावद्य-युक्त है । अतः षट्काय के रक्षक साधुओं ने वायु का कभी समारम्भ नहीं किया है । इसलिए वे तालवृन्त (वीजन),

संस्कृत— अनिलस्य समारंभं बुद्धा मन्यन्ते तादृशम् ।
सावद्यबहुलं चैनं नैनं आर्यैभिः सेवितम् ॥
तालवृन्तेन पत्रेण शाखाविधुवनेन वा ।
न ते बीजितुमिच्छन्ति बीजयितुं वा परेण ॥
यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा कम्बलं पादप्रोञ्छनम् ।
न ते वातमुदीरयन्ति यतं परिदधते च ॥
तस्मादेनं परिज्ञाय दोषं दुर्गतिवर्धनम् ।
वायुकायसमारम्भं यावज्जीवं वर्जयेत् ॥

(४१—४२—४३)

मूल— वणस्सइं न हिंसंति मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिया ॥
वणस्सइं विहिंसंतो हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे चक्खुसे य अचक्खुसे ॥
तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
वणस्सइसमारंभं जावज्जीवाए वज्जए ॥

संस्कृत— वनस्पतिं न हिंसन्ति मनसा वचसा कायेन ।
त्रिविधेन करणयोगेन संयताः सुसमाहिताः ॥
वनस्पतिं विहिंसन् हिनस्ति तु तदाश्रितान् ।
त्रसांश्च विविधान् प्राणान् चाक्षुषांश्चाचाक्षुषान् ॥
तस्मादेनं विज्ञाय दोषं दुर्गतिवर्धनम् ।
वनस्पतिसमारम्भं यावज्जीवं वर्जयेत् ॥

(४४—४५—४६)

मूल— तसकायं न हिंसंति मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिया ॥
तसकायं विहिंसंतो हिंसई उ तयस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे चक्खुसे य अचक्खुसे ॥
तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
तसकायसमारंभं जावज्जीवाए वज्जए ॥

पत्र, शाखा (वृक्ष-डाली) और पंखे से हवा करना तथा दूसरों से हवा कराना नहीं चाहते हैं। जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और पाद-प्रोंछन हैं उसके द्वारा वे वायुकाय की उदीरणा नहीं करते, किन्तु यतनापूर्वक उसका उपयोग करते हैं। इसलिए वायु-काय के इस समारम्भ को दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनिजन यावज्जीवन के लिए वायुकाय के समारम्भ का त्याग करते हैं।

(४१—४२—४३)

दोहा— मनतें वचतें कायतें, हनै न हरिता काय।
संजति त्रिकरन जोगतें, जे सुसमाधित भाय॥
हिंसत हरिता काय कों, हनै विविध त्रस जंत।
नैन स-दीठ अदीठ जे, आस्त्रित तासु रहंत॥
तातें ऐसो दोस लखि, दुरगति-वरधन-हार।
करै हरित आरंभ को, आजीवन परिहार॥

अर्थ—सुसमाधिवन्त साधुजन मन से, वचन से, काय से, इन तीन योगों से तथा कृत कारित अनुमोदना इन तीन करणों से वनस्पति की हिंसा नहीं करते हैं। वनस्पति की हिंसा करता हुआ मनुष्य उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर साधु यावज्जीवन के लिए वनस्पति के समारम्भ का त्याग करे।

(४४—४५—४६)

दोहा—मनतें वचतें कायतें, हनै नहीं त्रसकाय।
सजति त्रिकरण जोगतें, जे सुसमाधित भाय॥
हिंसत हू त्रसकायकों, हनै विविध त्रस जंत।
नैंन स-दीठ अदीठ जे, आस्त्रित तासु रहंत॥
तातें ऐसो दोस लखि, दुरगति-वरधन-हार।
कीजे त्रस-आरंभ को, आजीवन परिहार॥

संस्कृत— त्रसकायं न हिंसंति मनसा वचसा कायेन ।
त्रिविधेन करणयोगेन संयताः सुसमाहिताः ॥
त्रसकायं विहिंसन् हिनस्ति तु तदाश्रितान् ।
त्रसांश्च विविधान् प्राणान् चाक्षुषांश्चाचाक्षुषान् ॥
तस्मादेनं विज्ञाय दोषं दुर्गतिवर्धनम् ।
त्रसकाय समारंभं यावज्जीवं वर्जयेत् ॥

(४७—४८)

मूल— जाइं चत्तारिऽभोज्जाइं इसिणाहारमाईणि ।
ताइं तु विवज्जंतो संजमं अणुपालए ॥
पिंडं सेज्जं च वत्थं च चउत्थं पायमेव य ।
अकप्पियं न इच्छेज्जा पडिगाहेज्ज कप्पियं ॥

संस्कृत— यानि चत्वार्यभोज्यानि ऋषिणाऽऽहारादीनि ।
तानि तु विवर्जयन् संयममनुपालयेत् ॥
पिंडं शय्यां च वस्त्रं च चतुर्थं पात्रमेव च ।
अकल्पिकं नेच्छेत् प्रतिगृह्णीयात्कल्पिकम् ॥

(४९—५०)

मूल— जे नियागं ममायंति कीयमुद्देसियाहडं ।
वहं ते समणुजाणंति इय वुत्तं महेसिणा ॥
तम्हा असण-पाणाइं कीयमुद्देसियाहडं ।
वज्जंति ठियप्पाणो णिग्गंथा धम्मजीविणो ॥

संस्कृत— ये नित्याग्रं ममायन्ति क्रीतमौद्देशिकाहृतम् ।
वधं ते समनुजानन्ति इत्युक्तं महर्षिणा ॥
तस्मादशनपानादि क्रीतमौद्देशिकाहृतम् ।
वर्जयन्ति स्थितात्मानः निर्ग्रन्था धर्मजीविनः ॥

अर्थ—सुसमाधिवन्त साधुजन मन से, वचन से, काय से, इन तीनों योगों से, कृत कारित अनुमोदना इन तीन करणों से त्रसकाय की हिंसा नहीं करते हैं। त्रसकाय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है। इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर संयमी मुनि यावज्जीवन के लिए त्रसकाय के समारम्भ का त्याग करे।

(४७–४८)

नाराचछन्द— अकल्पनीय साधु के अहार आदि चार जे,
मुनित्व कों अराधिये, तिन्हें निवार डार जे।
अहार सेज वाससी चतुर्थ पात्र जानिये,
अकल्पनीय ना चहै सु कल्पनीय आनिये॥

अर्थ— ऋषि के लिए जो चार अकल्पनीय पिण्ड (आहार-पान) शय्या (वसति) वस्त्र और पात्र हैं, वह उनका त्याग करे और संयम का अनुपालन करे। किन्तु जो कल्पनीय पिण्ड, शय्या, वस्त्र और पात्र हों, उन्हें ही ग्रहण करे।

(४९—५०)

नाराचछन्द— जु नित्त ही निमंत्रियो. तथा निमित्त तें कियो,
तथा जु दाम दे लियो, जु आन थान पें दियो।
गहै अहार ए तिन्हें महर्षि ने कहो यहै,
संहार प्रानि-पान को वहै स्वचित्त सों चहै।
अहार पान मोल के निमित्त के जु आन के,
दिये सु टार देत हैं, सु या प्रकार जान के।
सधर्म जे जियो करें, अधर्म तें जियें नहीं,
परिग्रहै न संग्रहै रहै स्थिरात्म जे सही॥

अर्थ—जो नित्याग्र (नित्य ही आदरपूर्वक निमन्त्रित कर दिया जाने वाला), क्रीत (साधु के निमित्त खरीदा गया), औद्देशिक (साधु के निमित्त बनाया गया) और आहृत (साधु के निमित्त दूर से लाया गया) आहार ग्रहण करते हैं, वे प्राणिवध का अनुमोदन करते हैं. ऐसा महर्षि महावीर ने कहा है। इसलिए धर्मजीवी और संयम में स्थित साधु क्रीत, औद्देशिक और आहृत अशन-पान आदि का त्याग करते हैं।

(५१—५२—५३)

मूल— कंसेसु कंसपाएसु कुंडमोएसु वा पुणो ।
भुंजंतो असणपाणाइं आयारा परिभस्सइ ॥
सीओदग समारंभे मत्तधोयण छड्डणे ।
जाइं छन्नन्ति भूयाइं दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥
पच्छाकम्मं पुरेकम्मं सिया तत्थ न कप्पई ।
एयमट्ठं न भुंजंति निग्गंथा गिहिभायणे ॥

संस्कृत— कांस्येषु कांस्यपात्रेषु कुण्डमोदेषु वा पुनः ।
भुञ्जानोऽशनपानादि आचारात् परिभ्रश्यति ॥
शीतोदक-समारम्भे अमत्रधावनच्छर्दने ।
यानि क्षण्यन्ते भूतानि दृष्टस्तत्रासंयमः ॥
पश्चात्कर्म पुराकर्म स्यात्तत्र न कल्पते ।
एतदर्थं न भुञ्जन्ते निर्ग्रन्था गृहिभाजने ॥

(५४—५५)

मूल— आसंदी - पलियंकेसु मंचमासालएसु वा ।
अणायरियमज्जाणं आसइत्तु सइत्तु वा ॥
नासंदी - पलियंकेसु न निसेज्जा न पीढए ।
निग्गंथाऽपडिलेहाए बुद्धवुत्तमहिट्ठगा ॥

संस्कृत— आसन्दी - पर्यङ्कयोः मञ्चाशालकयोर्वा ।
अनाचरितमार्याणां आसितुं शयितुं वा ॥
नासन्दी-पर्यङ्कयोः न निषद्यायां न पीठके ।
निर्ग्रन्थाः अप्रतिलेख्य बुद्धोक्ताधिष्ठातारः ॥

(५६—५७)

मूल— गंभीर - विजया एए पाणा दुप्पडिलेहगा ।
आसंदी पलियंका य एयमट्ठं विवज्जिया ॥
गोयरग्गपविट्ठस्स निसेज्जा जस्स कप्पई ।
इमेरिसमणायारं आवज्जइ अबोहियं ॥

(५१—५२—५३)

नाराचछन्द— कटोरिका जु कांसि की कि थाल कांसि को लिये,
तथैव कुंड माटि को अहार तासु में किये।
पुनश्च पान हू किये गृहस्थ भाजनानि में,
मुनी अचारतें सुभ्रष्ट होत हैं जहान में॥
अरंभ शीत नीर को परे जु पात्र धोवते,
मरंत जन्तु यों तहाँ असंजमाहि जोवते।
तहां न कल्पनीय पूर्व पच्छकर्म ओगतें,
तदर्थ ही निग्रन्थ ना गृहस्थ-पात्र भोगते॥

अर्थ—जो गृहस्थ के कांसे के प्याले-कटोरे, कांसे का थाल आदि पात्र अथवा मिट्टी आदि के बने कुंड आदि में रखे—परोसे गये—अशन-पान आदि को खाता-पीता है, वह श्रमण साधु के आचार मे भ्रष्ट होता है। क्योंकि उक्त पात्रों को सचित्त जल से धोने में और उस धोवन के फेंकने से प्राणियों की हिंसा होती है। ज्ञानियों ने वहां असंयम देखा है। गृहस्थ के पात्र में भोजन करने पर पश्चात्कर्म (पीछे पात्रों का धोना-मांजना) और पुर:कर्म (साधु के भोजन से पूर्व उनके लिए पात्रों को धोना आदि) की संभावना है। यह निर्ग्रन्थ के लिए कल्प्य नहीं है, इसलिए वे गृहस्थ के पात्र में भोजन नहीं करते हैं।

(५४—५५)

चौपाई— भद्रासन पलंग चौपाई, आसालक आसन सुखदाई।
इन पर बैठे सोये जोई, अनाचरित आर्यनि को होई॥
बुद्ध-वचन-आराधन-हारे, कारन ते कबहुक जो धारे।
पलंग पीठ गादी भद्रासन, विन प्रतिलेखे ग्रहै न आसन॥

अर्थ—आर्य मुनिजनों के लिए आसन्दी (बेंत की बनी कुर्सी, मूढा), पलंग, मांचा और आसालक (सहारेवाला आसन) पर बैठना या सोना अनाचाररूप है। ज्ञानियों की आज्ञा के अनुसार कार्य करने वाले निर्ग्रन्थ अपने योग्य आसन्दी, पलंग, आसन और पीढ़े का प्रतिलेखन किये बिना उन पर न बैठे और न सोवे।

(५६—५७)

चौपाई— ए सब आसन तम-जुत आही, मुसकिल सों प्रतिलेखे जाही।
याते आसंदी रु पलंगा, आदिन कों वरजत हैं संता॥
गोचरि-हेतु गयो घर मांही, चित जिहि बैठि रहन की चाही।
ऐसो अनाचार-जुत होई, फल अबोध पावत है सोई॥

संस्कृत— गम्भीर विजया एते प्राणा दुष्प्रतिलेख्यकाः ।
आसन्दी पर्यङ्कश्च एतदर्थं विवर्जितौ ॥
गोचराग्रप्रविष्टस्य निषद्या यस्य कल्पते ।
एतादृशमनाचारं आपद्यते अबोधिकम् ॥

(५८—५९)

मूल— विवत्ती बंभचेरस्स पाणाणं अ वहे वहो ।
वणीमग पडिग्घाओ पडिकोहो अगारिणं ॥
अगुत्ती बंभचेरस्स इत्थीओ या वि संकणं ।
कुसीलवड्ढणं ठाणं दूरओ परिवज्जए ॥

संस्कृत— विपत्तिर्ब्रह्मचर्यस्य प्राणानां च वधे वधः ।
वनीपकप्रतिघातः प्रतिक्रोधोऽगारिणाम् ॥
अगुप्तिर्ब्रह्मचर्यस्य स्त्रीतश्चापि शङ्कनम् ।
कुशीलवर्धनं स्थानं दूरतः परिवर्जयेत् ॥

(६०)

मूल— तिण्हमन्नयरागस्स निसेज्जा जस्स कप्पई ।
जराए अभिभूयस्स वाहियस्स तवस्सिणो ॥

संस्कृत— त्रयाणामन्यतरकस्य निषद्या यस्य कल्पते ।
जरयाऽभिभूतस्य व्याधितस्य तपस्विनः ॥

(६१—६२—६३—६४)

मूल— वाहिओ वा अरोगी वा सिणाणं जो उ पत्थए ।
वोक्कंतो होइ आयारो जढो हवइ संजमो ॥
सन्तिमे सुहुमा पाणा घसासु भिलुगासु य ।
जे उ भिक्खू सिणायंतो वियडेणुप्पिलावए ॥
तम्हा ते ण सिणायंति सीएण उसिणेण वा ।
जावज्जीवं वयं घोरं असिणाणमहिट्ठगा ॥
सिणाणं अदुवा कक्कं लोद्धं पउमगाणि य ।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए नायरंति कयाइ वि ॥

अर्थ आसन्दी आदि गंभीर छिद्रवाले होते हैं, उनमें रहे हुए प्राणियों का प्रतिलेखन करना कठिन होता है। इसलिए आसन्दी और पलंग आदि पर बैठना या सोना वर्जित किया है। भिक्षा के लिए गया हुआ जो मुनि गृहस्थ के घर में बैठता है, वह आगे कहे जाने वाले अबोधि-कारक अनाचार को प्राप्त होता है।

(५८—५६)

चौपाई— ब्रह्मचरज पर विपदा आवै, प्रानि हनै संजम हनि जावै।
जाचक जन बाधा पुनि पावै, घर-स्वामी हिय रोस भरावै॥
ब्रह्मचरज की बाड़ न रहई, नारी जन शंका हिय लहई।
यह कुसील-बाढ़न को ठामा, दूरहि तें तजिये यह कामा॥

अर्थ—गृहस्थ के घर में बैठने से ब्रह्मचर्य की विपत्ति (हानि), प्राणियों का वध होने पर संयम का घात, भिखारियों के अन्तराय और घर वालों को क्रोध उत्पन्न होता है। शयनासनों पर बैठनेवाले मुनि का ब्रह्मचर्य असुरक्षित होता है, और स्त्रियों के संपर्क से लोगों को साधु के ब्रह्मचर्य में शंका उत्पन्न होती है। गृहस्थ के आसनों पर बैठना कुशीलवर्धक स्थान है, इसलिए मुनि इसका दूर से ही परित्याग करें।

(६०)

चौपाई— जाकी देह जरा तें जीरन, जो घिरचो है रोग की पीरन।
कै तपसी, तीननि में कोई, गृह बैठन में दोस न होई॥

अर्थ—जो साधु जरा से ग्रस्त हो, रोग से घिरा हो और दीर्घ तपस्वी हो, तो इन तीनों में से कोई भी साधु (निर्बलता के कारण थकान मिटाने के लिए) गृहस्थ के घर में बैठ सकता है।

(६१—६२—६३—६४)

चौपाई— रोगी तथा अरोगी होई, स्नान करन चाहत है जोई।
तो आचार उलंघन होई, संजमहीन कहावत सोई॥
पोली भूमि दराडन माहीं, ए सूक्षम प्राणी गन आहीं।
स्नान करत जद्यपि जल प्रासुक, तिनहिं बहावत है वह भिक्षुक॥
तातें ते नहिं न्हावत धीरा, सीरे वा ताते हू नीरा।
आजीवन भीसन प्रन-कारी, बिनु सिनान विचरत व्रत-धारी॥

दोहा— न्हान तथा तन-ऊबटन, कबहुँ आचरत नाहिं।
चंदन केसर कुंकुमहु, लोधादिक न लगाहिं॥

संस्कृत— व्याधितो वा अरोगी वा स्नानं यस्तु प्रार्थयते ।
व्युत्क्रान्तो भवत्याचारस्त्यक्तो भवति संयमः ॥
संतीमे सूक्ष्माः प्राणाः घसासु भिलुगासु च ।
यांस्तु भिक्षुः स्नान् विकटेनोत्प्लावयति ॥
तस्मात्ते न स्नान्ति शीतेनोष्णेन वा ।
यावज्जीवं व्रतं घोरं अस्नानाधिष्टातारः ॥
स्नानमथवा कल्कं लोध्रं पद्मकानि च ।
गात्रस्योद्वर्तनार्थं नाचरन्ति कदाचिदपि ॥

(६५—६६—६७)

मूल— नगिणस्स वा वि मुंडस्स दीहरोमनहंसिणो ।
मेहुणा उवसंतस्स किं विभूसाए कारियं ॥
विभूसावत्तियं भिक्खू कम्मं बंधइ चिक्कणं ।
संसारसायरे घोरे जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥
विभूसावत्तियं चेयं बुद्धा मन्नंति तारिसं ।
सावज्जबहुलं चेयं नेयं ताईहिं सेवियं ॥

संस्कृत— नग्नस्य वापि मुण्डस्य दीर्घरोमनखवतः ।
मैथुनादुपशान्तस्य किं विभूषया कार्यम् ॥
विभूषा प्रत्ययं भिक्षुः कर्म बध्नाति चिक्कणम् ।
संसारसागरे घोरे येन पतति दुरुत्तरे ॥
विभूषाप्रत्ययं चेतः बुद्धा मन्यन्ते तादृशम् ।
सावद्यबहुलं चैतत् नैतत् त्रायिभिः सेवितम् ॥

(६८—६९)

मूल— खवेंति अप्पाणममोहदंसिणो
तवे रया संजम अज्जवे गुणे ।
धुणंति पावाइं पुरेकडाइं
नवाइं पावाइं न ते करेंति ॥

अर्थ—जो रोगी या निरोग साधु स्नान करने की अभिलाषा करता है, उसके आचार का उल्लंघन होता है और उसका संयम नष्ट हो जाता है। स्नान करने की भूमि पोली हो या दरार-युक्त हो तो उसमें सूक्ष्म प्राणी होते हैं। प्रासुक जल से स्नान करने वाला भिक्षु भी उन्हें जल से प्लावित कर देता है। (इससे उनकी हिंसा अवश्य होती है।) इसलिए मुनि ठंडे या गर्म जलसे स्नान नहीं करते हैं। वे जीवनपर्यंत घोर अस्नानव्रत का पालन करते हैं। मुनि शरीर का उबटन करने के लिए कल्क (चन्दनादि सुगन्धी द्रव्यों का चूर्ण), लोध्रवृक्ष का चूर्ण, पिट्ठी और कमल-केसर आदि का उपयोग भी नहीं करते हैं।

(६५—६६—६७)

सवैया— नग्न सरीर सुमुंडित सीस बड़े नख रोम कों धारन हारे।
काम-विकार भयो उपशांत सु क्यों सिनगार विभूसन धारे॥
जो अनगार लगै सिनगार में बाँधत कर्म सचीकन भारे।
जातें परै भवसागर भीम में दुष्कर जासु को पायनो पारे॥

चौपाई— लीन विभूषा में मन ऐसो, बुद्ध देव मानत है तैसो।
बहुत दोस-पूरित है जोई, त्राता संत न सेवत सोई॥

अर्थ—नग्न शरीर रहने वाले, द्रव्य-भाव से मुंडित मस्तक और दीर्घ रोम और नखवाले तथा मैथुन-सेवन से उपशान्त चित्तवाले मुनि को शरीर-शोभा से क्या प्रयोजन है? शरीर-शोभा से साधु चिकने (दारुण) कर्म को बाँधता है, उससे वह दुस्तर संसार सागर में गिरता है। शरीर की शोभा में संलग्न मनको ज्ञानी पुरुष विभूषा के सदृश हो चिकने कर्म के बन्धन का हेतु मानते हैं, यह शरीर-शोभा बहुत अधिक सावद्य-प्रचुर है। यह छह काय के त्राता मुनियों द्वारा आसेवित नहीं है। (अतः साधु को शरीर-शोभा करने का विचार भी मन में नहीं लाना चाहिए।)

(६८—६९)

कवित्त— मोहमति नासी, दृष्टि विमल प्रकासी, भए
संजय सरलता में, तपस्या में रत हैं।
पूरव के पाप तोरे, नये पाप नहीं जोरे,
आतम विशुद्ध करिवे को करैं कृत हैं।

सओवसंता अममा अकिंचणा
सविज्जविज्जाणुगया जसंसिणो।
उउप्पसन्ने विमले व चंदिमा
सिद्धिं विमाणाइ उवेंति ताइणो॥

—त्तिबेमि

संस्कृत— क्षपयन्त्यात्मानममोहदर्शिनः
तपसि रताः संयममार्जवे गुणे।
धुन्वन्ति पापानि पुराकृतानि
नवानि पापानि न ते कुर्वन्ति॥
सदोपशान्ता अममा अकिञ्चना
स्वविद्याविद्यानुगता यशस्विनः।
ऋतुप्रसन्ने विमल इव चन्द्रमा
सिद्धिं विमानानि उपयान्ति त्रायिणः॥

—इति ब्रवीमि

छठ्ठं महायारकहा अज्झयणं सम्मत्तं

सदा उपशान्त, परिग्रह ममता सों हीन
आतम-ज्ञान-लीन परमारथानुगत हैं।
रच्छक जसी अमल ज्यों रितु-प्रसना ससो
लहै निरवान वा विमाननि बसत हैं॥

अर्थ -- मोह-रहित यथार्थ तत्त्व के ज्ञाता, तप में संलग्न, सत्रह प्रकार के संयम के परिपालक, आर्जव गुण के धारक निर्ग्रन्थ मुनि अपने शरीर को कृश कर देते हैं, वे पुराकृत पापकर्म का नाश करते हैं और नवीन पापों को नहीं करते हैं। वे सदा उपशान्त, ममता-रहित, अकिंचन (जिनके पास धनादि परिग्रह कुछ भी नहीं है), आत्म-विद्या से युक्त, यशस्वी और त्राता मुनि शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान मल-रहित होकर (सर्व कर्मों का नाश कर) सिद्धि को प्राप्त होते हैं अर्थात् मोक्ष जाते हैं अथवा कर्मों के कुछ रहने पर वैमानिक देवों में उत्पन्न होते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूं।

छठा महाचारकथा अध्ययन समाप्त

सत्तम वक्कसुद्धि अज्झयणं

(१)

मूल— चउण्हं खलु भासाणं परिसंखाय पन्नवं ।
दोण्हं तु विणयं सिक्खे दो न भासेज्ज सव्वसो ॥

संस्कृत— चतसृणां खलु भाषाणां परिसंख्याय प्रज्ञावान् ।
द्वाभ्यां तु विनयं शिक्षेत द्वे न भाषेत सर्वशः ॥

(२)

मूल— जा य सच्चा अवत्तव्वा सच्चा-मोसा य जा मुसा ।
जा य बुद्धेहिंऽणाइन्ना न तं भासेज्ज पन्नवं ॥

संस्कृत— या च सत्या अवक्तव्या सत्या-मृषा च य मृषा ।
या च बुद्धैरनाचीर्णा न तां भाषेत प्रज्ञावान् ॥

(३—४)

मूल— असच्चमोसं सच्चं च अणवज्जमकक्कसं ।
समुप्पेहमसंदिद्धं गिरं भासेज्ज पन्नवं ॥
एयं च अट्ठमन्नं वा जं तु नामेइ सासयं ।
स भासं सच्चमोसं पि तं पि धीरो विवज्जए ॥

संस्कृत— असत्यामृषां सत्यां च अनवद्यामकर्कशाम् ।
समुत्प्रेक्ष्य असंदिग्धां गिरं भाषेत प्रज्ञावान् ।
एवं चार्थमन्यं वा, यस्तु नामयति शाश्वतम् ॥
स भाषा सत्यामृषा अपि तामपि धीरो विवर्जयेत् ॥

सप्तम वाक्यशुद्धि अध्ययन

(१)

तोटक— **चतुभेद कहे खलु बानिय के, मतिमान भली विधि जानिय के।**
दुय के बरतावनि सीखि घरै, दुयकों सब भाँति नहीं उचरै ॥१॥

अर्थ—प्रज्ञावान् मुनि चारों भाषाओं को जानकर दो के द्वारा विनय (शुद्ध वचन प्रयोग) सीखे और दो को सर्वथा न बोले।

(२)

तोटक— **सच है, पर बोलन जोग नहीं, सच-झूठ, तु केवल झूठ कही।**
जिनदेव न सेवन जाहि करी, न कहै मतिवंत जु बानि बुरी॥

अर्थ—जो अवक्तव्य-सत्य, जो सत्य-मृषा, जो मृषा और जो (असत्यामृषा) भाषा बुद्धों के द्वारा अनाचीर्ण (आचरण करने के अयोग्य) कही है उसे प्रज्ञावान् मुनि न बोले।

(३—४)

रोला छन्द— **सत्य तथा व्यवहार दोष-वर्जित कोमल पुनि,**
लखि के संशय-रहित भनै भाषा मति-घर मुनि।
ऐसे अरथ रु और हु जे अविचल सुख-हारक,
बोल सुसत वा झूठ वह हु वरजै धृति-धारक॥

अर्थ—प्रज्ञावान् मुनि असत्यामृषा (व्यवहारभाषा) और सत्य भाषा-जो अनवद्य (निर्दोष) मृदु और सन्देह-रहित हो, उसे सोच-विचार कर बोले। वह धीर पुरुष सावद्य और कर्कशता-युक्त अर्थ को, अथवा इसी प्रकार के दूसरे अर्थ को प्रतिपादन करने वाली जो भाषा, शाश्वत सुख (मोक्ष) की विघातक है, चाहे वह सत्यामृषा (मिश्र) भाषा हो अथवा सत्यभाषा हो, उसे सत्य महाव्रतधारी बुद्धिमान् साधु न बोले।

(५)

मूल— **वितहं पि तहामुत्तिं जं गिरं भासए नरो ।**
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं किं पुण जो मुसं वए ॥

संस्कृत— वितथामपि तथा मूर्तिं यां गिरं भाषते नरः ।
तस्मात् स स्पृष्टः पापेन किं पुनर्यो मृषावदेत् ॥

(६—७)

मूल— **तम्हा गच्छामो वक्खामो अमुगं वा णे भविस्सई ।**
अहं वा णं करिस्सामि एसो वा णं करिस्सई ॥
एवमाई उ जा भासा एसकालम्मि संकिया ।
संपयाईमट्ठे वा तं पि धीरो विवज्जए ॥

संस्कृत— तस्माद् गच्छामो वक्ष्यामोऽमुकं - वा - नो - भविष्यति ।
अहं वेदं करिष्यामि एष वेदं करिष्यति ॥
एवमादिस्तु या भाषा एष्यत्काले शङ्किता ।
साम्प्रतातीतार्थयोर्वा तामपि धीरो विवर्जयेत् ॥

(८—९ – १०)

मूल— **अईयम्मि य कालम्मी पच्चुप्पन्नमणागए ।**
जमट्ठं तु न जाणेज्जा एयमेयं तु नो वए ॥
अईयम्मि य कालम्मी पच्चुप्पन्नमणागए ।
जत्थ संका भवे तं तु एयमेयं तु नो वए ॥
अईयम्मि य कालम्मी पच्चुप्पन्नमणागए ।
निस्संकियं भवे तं तु एयमेयं ति निद्दिसे ॥

संस्कृत— अतीते च काले प्रत्युत्पन्नानागते ।
यमर्थं तु न जानीयात् 'एवमेवदिति' नो वदेत् ॥
अतीते च काले प्रत्युत्पन्नानागते ।
यत्र शङ्का भवेत्तं त्तु 'एवमेवदिति' नो वदेत् ॥
अतीते च काले प्रत्युत्पन्नानागते ।
निःशङ्कितं भवेद्यत्तु 'एवमेतदिति' निर्दिशेत् ॥

(५)

छन्द— अजथारथ को रूप जथारथ, देखि जथारथ भाखें ।।
सो नर वातें पाप हि परसं का फिर झूठ जु भाखें ।।

अर्थ जो पुरुष सत्य दिखने वाली असत्य वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है अर्थात् पुरुष वेषधारी स्त्री को पुरुष कहता है, उससे भी वह पाप से स्पृष्ट होता है, तो फिर उसका क्या कहना जो साक्षात् मृषा (झूठ) बोले ? अर्थात् उससे तो प्रबलतर पाप कर्म का बन्ध होगा ही ।

(६—७)

कवित्त —

तातें 'हम जायगे' वा भासन करेंगे' ऐसे, अथवा 'अमुक काज होयगो हमारे यों' ।
'ऐसो मैं करूंगो' तथा 'करंगो हमारे यह', इत्यादिक भाषा जे हैं तिन्हें न उचारे यों ।
जो हैं होनहार अब तामें संकनीय सो तो, त्यों ही भूत वर्तमान संकित निवारे यों ।
प्रवचन बीच कहे वचन विचारे सदा, धीरवान मुनि कहै वचन विचारे यों ।।

अर्थ—इसलिये 'हम जायेंगे' 'कहेंगे', 'हमारा अमुक कार्य हो जायगा', मैं यह करूंगा, अथवा यह व्यक्ति यह कार्य करेगा, यह और इस प्रकार की दूसरी भाषा जो भविष्य-सम्बन्धी होने के कारण (सफलता की दृष्टि से) शकित हो, अथवा वर्तमान और अतीतकाल-सम्बन्धी अर्थ के बारेमें शंकित हो, उसे भी धीर वीर पुरुष न बोले ।

(८—९—१०)

चौपाई— भूत भविष्यत कालहु माहीं, अथवा वर्तमान की छाहीं ।
जौन अर्थ को जानै नाहीं, तौ न कहै यह यों ही आही ।।
भूत भविष्यत कालनि माहीं, अथवा वर्तमान की छाहीं ।
जा थल में कछु है संदेह, 'यह यों ही है' कहै न येह ।।
भूत भविष्यत कालहु माहीं, अथवा वर्तमान की छाहीं ।
जा थल में कछु नाहिं संदेह, 'यह यों ही हैं' कहिये येह ।।

अर्थ—भूत, वर्तमान और भविष्य काल-सम्बन्धी जिस अर्थ को सम्यक् प्रकार से न जाने उसे 'यह इस प्रकार ही है, ऐसा न कहे । भूत, वर्तमान और भविष्य काल सम्बन्धी जिस अर्थ में शंका हो, उसे 'यह इस प्रकार ही है', ऐसा न कहे । किन्तु भूत, वर्तमान और भविष्य काल-सम्बन्धी जो अर्थ निःशंकित हो, अर्थात् जिसके विषय में पूर्ण निश्चय हो उसके विषय में 'यह इस प्रकार ही है' ऐसा कहे ।

(११)

मूल— तहेव फरुसा भासा गुरुभूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा जओ पावस्स आगमो ॥

संस्कृत— तथैव परुषा भाषा गुरुभूतोपघातिनो ।
सत्यापि सा न वक्तव्या यत: पापस्य आगमः ॥

(१२—१३—१४)

मूल— तहेव काणं काणेत्ति पंडगं पंडगे त्ति वा ।
वाहियं वा वि रोगि त्ति तेणं चोरे त्ति नो वए ॥
एएणन्नेण वट्ठेण परो जेणुवहम्मई ।
आयारभावदोसन्नू न तं भासेज्ज पन्नवं ॥
तहेव होले गोले त्ति साणे वा वसुले त्ति य ।
दमए दुहए वावि नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥

संस्कृत— तथैव काणं 'काण' इति पण्डकं 'पण्डक' इति वा ।
व्याधितं वापि रोगीति स्तेनं 'चोर' इति नो वदेत् ॥
एतेनान्येन वार्थेन परो येनोपहन्यते ।
आचारभावदोषज्ञो न तं भाषेत प्रज्ञावान् ॥
तथैव 'होल' 'गोल' इति 'श्वा' वा 'वृषल' इति च ।
'द्रमको' दुर्भगश्चापि नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥

(१५—१६—१७)

मूल— अज्जिए पज्जिए वावि अम्मो माउस्सिय त्ति य ।
पिउस्सिए भायणेज्ज त्ति धूए नत्तुणिए त्ति य ॥
हले हले त्ति अन्ने त्ति भट्टे सामिणि गोमिणि ।
होले गोले वसुले त्ति इत्थियं नेवमालवे ॥
नामधिज्जेण णं बूया इत्थीगोत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्ज आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥

(११)

चौपाई— **त्यों ही जो कठोर है बानी, गुरु भूतनि उपघातनि जानी।**
सत्य हु बात कहिय नहिं सोई, जातें पातक आवन होई ॥

अर्थ—इसी प्रकार परुष (कठोर) भारी प्राणियों का घात करने वाली सत्य भाषा भी न बोले, क्योंकि इससे पाप कर्म का आगमन होता है।

(१२--१३—१४)

कवित्त—

त्यों ही 'कानो' कानेकों, नपुंसक को 'नपुंसक', रोगीहू कों 'रोगी' चोरहू को 'चोर' भासे ना।
ऐसे और बैन जातें पीड़ित परायो होय, आचार-दोषज्ञ बुध मुखतें निकासे ना।
'ऐ गंवार', 'अहो गोल' 'अहो श्वान', 'अरे जार' 'द्रमुक' 'अभागे' ऐसे भासे रसना से ना।
ये वा ऐसे आन बैन आनन पै आनकर, बुद्धिमान साधु निज भद्रता विनासे ना ॥

अर्थ—इसी प्रकार काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर न कहे। आचार (वचन-नियमन) सम्बन्धी भावदोष (चित्त के प्रद्वेष) को जानने वाला प्रज्ञावान् पुरुष उक्त प्रकार की, अथवा इसीकोटि की दूसरी भाषा—जिससे दूसरे के हृदय को चोट लगे—न बोले। इसीप्रकार बुद्धिमान् मुनि 'रे होल, रे गोल, ओ कुत्ता, वृषल (दुराचारिन्), अरे द्रमक (कंगाल), अरे दुर्भग (अभागे) इत्यादि कठोर शब्द किसी पुरुष से कभी न कहे।

(१५—१६—१७)

कवित्त—

दादी तथा नानी पड़दादी पड़नानी मात, मौसी भुआ भानजी यों नारिन पुकारै ना।
पुत्री पोती हले हले अन्ने भट्टे ठाकुरानी, गोपी गँवारनी दासी कुलटा उचारै ना।
जाको जैसो नाम है विख्यात तासों तैसो बोलै गोत्रसों उचारे पै विचार तजि डारे ना।
जथाजोग देख भाल गुन दोस को विचार बोले एक बार, बार बार अविचारे ना ॥

अर्थ - हे आर्यिके (हे दादी, हे नानी) हे, प्रार्यिके (हे परदादी, हे परनानी), हे अम्ब (मात), हे मौसी, हे बुआ, हे भानजी, हे पुत्री, हे पोती, हे हले (सखी), हे हली, हे अन्ने, हे भट्टे, हे स्वामिनि, हो गोभिनि (गवालिन), हे होले, हे गोले, हे वृपले (दुराचारिणि) इस प्रकार से स्त्रियों को सम्बोधित न करे। किन्तु यथायोग्य

संस्कृत— आर्यिके प्रार्यिके वापि अम्ब मातृष्वसः इति च ।
पितृष्वसः भागिनेयि इति दुहितः नप्तृके इति च ॥
हले हला इति 'अन्ने' इति भट्टे स्वामिनि गोमिनि ।
होले गोले वृषले इति स्त्रियं नैवमालपेत् ॥
नामधेयेन तां ब्रूयात् स्त्रीगोत्रेण वा पुनः ।
यथार्हमभिगृह्य आलपेत् लपेद् वां ॥

(१८—१९—२०)

मूल— **अज्जए पज्जए वावि बप्पो चुल्लपिउ त्ति य ।**
माउला भाइणेज्ज त्ति पुत्ते नत्तुणिय त्ति य ॥
हे हो हले त्ति अन्ने त्ति भट्टा सामिय गोमिए ।
होल गोल वसुले त्ति पुरिसं नेवमालवे ॥
नामधेज्जेण णं बूया पुरिसगोत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्ज आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥

संस्कृत— आर्यक प्रार्यक वापि वप्तः क्षुल्लपितः इति च ।
मातुल भागिनेय इति पुत्र नप्त इति च ॥
हे भो हल इति अन्न इति भट्ट स्वामिक गोमिक ।
होल गोल वृषल इति पुरुषं नैवमालपेत् ॥
नामधेयेन तं ब्रूयात्, पुरुषगोत्रेण वा पुनः ।
यथार्हमभिगृह्य आलपेत् लपेत् वा ॥

(२१)

मूल— **पंचिंदियाण पाणाणं एस इत्थी अयं पुमं ।**
जाव ण विजाणेज्जा ताव जाइ त्ति आलवे ॥

संस्कृत— पञ्चेन्द्रियाणां प्राणानां एषा स्त्री अयं पुमान् ।
यावत्तां(तं) न विजानीयात् तावत् 'जातिः' इत्यालपेत् ॥

(अवस्था, देश, ऐश्वर्य आदि की अपेक्षा से) गुण-दोष का विचार कर एकवार या आवश्यक हो तो अनेकवार उन्हें उनके नाम या गोत्र से आमंत्रित करे—सम्बोधन करे और सन्मान-पूर्ण प्रिय वचन से बुलावे।

(१८—१९—२०)

कवित्त—

बाबा परदादा पिता चाचा मामा भागिनेय, पुत्र पौत्र आदि नाम संबोधन कीजे ना।
हे भो हल अन्न भट्ट स्वामी गोमी होल गोल, हे वसुल आदि नर-संबोधन दीजे ना।
नामतें पुकारे वाकों, तथा नर-गोत्र ही तें, जथाजोग बोलवे में दूसन गहीजे ना।
देखि गुन दोस एक वार तथा अनेक वार, बोलिये विचार अविचार तें वहीजे ना॥

अर्थ—हे आर्यक (हे दादा, हे नाना), हे प्रार्यक (हे परदादा, हे परनाना), हे पिता, हे चाचा, हे मामा, हे भानजा, हे पुत्र, हे पोता, हे हल (मित्र) हे अन्न, हे भट्ट, हे स्वामिन्, हो गोमिन्, हे होल, हे गोल, हे वृषल, इस प्रकार से बोलकर पुरुष को सम्बोधित न करे। किन्तु यथायोग्य (अवस्था, देश, ऐश्वर्य आदि की अपेक्षा से) गुण-दोष का विचार कर एक वार या अनेक वार उन्हें नाम से या गोत्र से सम्बोधित कर सम्मानपूर्ण प्रिय वचन से बुलावे।

(२१)

दोहा— पचेन्द्रिय प्रानीनिमें 'यह नर' वा 'यह नारि'।
जौ लगि यह नहिं जानिए, तौ लगि 'जाति' उचारि॥

अर्थ—पंचेन्द्रिय प्राणियों के विषय में जब तक यह स्त्री है, अथवा यह पुरुष है, ऐसा निश्चयपूर्वक न जान लेवे, तब तक उनकी 'जाति' का उल्लेख करके ही बोले कि यह गोजाति का पशु है, यह अश्वजाति का पशु है।

(२२—२३)

मूल— तहेव मणुस्सं पसुं पक्खिं वावि सरीसिवं ।
थूले पमेइले वज्झे पाइमे त्ति नो वए ॥
परिवुड्ढे त्ति णं बूया बूया उवचिए त्ति य ।
संजाए पीणिए वावि महाकाए त्ति आलवे ॥

संस्कृत— तथैव मनुष्यं पशुं पक्षिणं वापि सरीसृपम् ।
स्थूलः प्रमेदुरो वध्यः पाक्यः इति च नो वदेत् ॥
परिवृद्ध इत्येनं ब्रूयाद् ब्रूयादुपचित इति च ।
संजातः प्रीणितो वापि महाकाय इत्यालपेत् ॥

(२४—२५)

मूल— तहेव गाओ दुज्झाओ दम्मा गोरहग त्ति य ।
वाहिमा रहजोग त्ति नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥
जुवं गवे त्ति णं बूया धेणुं रसदय त्ति य ।
रहस्से महल्लए वावि वए संवहणे त्ति य ॥

संस्कृत— तथैव गावो दोह्याः, दम्या गोरहगा' इति च ।
वाह्या रथयोग्या इति नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥
युवागौरित्येनं ब्रूयात् धेनुं 'रसदा' इति ।
ह्रस्वो वा महान् वापि वदेत् संवहन इति च ॥

(२६—२७—२८—२९)

मूल— तहेव गंतुमुज्जाणं पव्वयाणि वणाणि य ।
रुक्खा महल्ल पेहाए नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥
अलं पासायखंभाणं तोरणाणं गिहाण य ।
फलिहग्गलनावाणं अलं उदगदोणिणं ॥
पीढए चंगवेरे य नंगले मइयं सिया ।
जंतलट्ठी व नाभी वा गंडिया व अलंसिया ॥
आसणं सयणं जाणं होज्जा वा किंचुवस्सए ।
भूओवघाइणिं भासं नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥

(२२—२३)

दोहा— त्यों मानव पशु पंछि को, सरपादिक कों वापि।
'मोटो' 'मेदुर' 'वध्य' वा, 'पाक्य' न कहे कदापि॥
'परिर्वधित' 'उपचित' तथा, 'प्रीणित' वा 'संजात'।
'महाकाय' आदिक कहे, दोस-रहित जो बात॥

अर्थ—इसी प्रकार मनुष्य, पशु, पक्षी और सांप को देखकर यह स्थूल (मोटा) है, प्रमेदुर (बहुत चर्बीवाला) है, वध्य (मारने योग्य) है, अथवा वाहन (गाड़ी आदि में जोतने के योग्य) है, अथवा पाक्य (पकाने के योग्य) है, या पात्य (काल प्राप्त है, देवतादि के बलि देने योग्य) है, ऐसा न कहे। यदि कदाचित प्रयोजन वश बोलना ही पड़े तो उसे स्थूल को 'परिवृद्ध', प्रमेदुर को 'उपचित', वध्य या वाह्य को 'संजात' या 'प्रीणित' और पाक्य या पात्य को 'महाकाय' बोल सकता है।

(२४—२५)

दोहा— त्यों ही 'दोहन-जोग गो', बलद दमन के जोग।
'भार-वहन, रथ-जोग' यों, कहै न मति-धर लोग॥
'गौ रसदा' बलदहिं युवा, लघु वा कहै महान।
अथवा संवाहन कहै, दोस-रहित जो वान॥

अर्थ—इसी प्रकार प्रज्ञावान् मुनि ये गायें दुहने योग्य हैं, ये बैल दमन करने के योग्य हैं, हल में जोतने के योग्य हैं, भार-वहन करने के योग्य हैं, और रथ योग्य हैं, इस प्रकार न बोले। किन्तु यदि प्रयोजन-वश बोलना ही पड़े तो बैल 'जवान' है, यह कहा जा सकता है, गाय रसदा (दूध देने वाली) है यों कहा जा सकता है। बैल छोटा है, या बड़ा है अथवा धुरा संवहन करने वाला है ऐसा कहा जा सकता है।

(२६—२७—२८—२९)

दोहा— तथा उपवननि, वनानिमें गये गिरिन के मांहि।
देखि बड़े द्रुम ए वचन, बुद्धिमान कह नांहि॥

कवित्त—

राज-गेह, थंभ-जोग, तोरन के जोग यह, भवन के जोग, परिघ के जोग जानिये।
आगल के जोग, नाव-जोग डोंगी-जोग यह, चौकी वा चंगेरी हल-जोग या कों मानिये।
मड़ा जंत्र-लाठी नाभी एरन-धरन-जोग, आसन-सयन-यान-जोग वा प्रमानि ये।
या को कछु होयगो उपासरे में मतिमान, जातें जीव-हानी वैसी वानी ना बखानिये॥

संस्कृत— तथैव गत्वोद्यानं पर्वतान् वनानि च ।
वृक्षान् महतः प्रेक्ष्य नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥
अलं प्रासाद-स्तम्भाभ्यां तोरणेभ्यो गृहेभ्यश्च ।
परिघार्गलनौभ्यः अलं उदकद्रोण्यै ॥
पीठकाय 'चंगवेराय' च लाङ्गलाय 'मयिकाय' स्यात् ।
यन्त्रयष्ट्यै वा नाभये वा गण्डिकायै वा अलं स्यात् ॥
आसनं शयनं यानं भवेद्वा किञ्चिदुपाश्रये ।
भूतोपघातिनीं भाषां नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥

(३०—३१)

मूल— तहेव गंतुमुज्जाणं पव्वयाणि वणाणि य ।
रुक्खा महल्ल पेहाए एवं भासेज्ज पन्नवं ॥
जाइमंता इमे रुक्खा दीहवट्टा महालया ।
पयायसाला विडिमा वए दरिसणि त्ति य ॥

संस्कृत— तथैव गत्वोद्यानं पर्वतान् वनानि च ।
वृक्षान् महतः प्रेक्ष्य एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥
जातिमन्त इमे वृक्षाः दीर्घवृत्ताः महान्तः ।
प्रजातशाला विटपिनः वदेद् दर्शनीया इति च ॥

(३२—३३)

मूल— तहा फलाइं पक्काइं पायखज्जाइं नो वए ।
वेलोइयाइं टालाइं वेहिमाइ त्ति नो वए ॥
असंथडा इमे अंबा बहुनिवट्टिया फला ।
वएज्ज बहुसंभूया भूयरूव त्ति वा पुणो ॥

संस्कृत— तथा फलानि पक्वानि पाकखाद्यानि नो वदेत् ।
वेलोचितानि टालानि वेध्यानि इति नो वदेत् ॥
असंस्कृता इमे आम्राः बहुनिर्वर्त्तितफलाः ।
वदेद् बहुसंभूता भूतरूपा इति वा पुनः ॥

अर्थ—इसी प्रकार उद्यान, पर्वत और वनों में जाकर और वहां खड़े वृक्षों को देखकर प्रज्ञावान् मुनि इस प्रकार न बोले कि ये वृक्ष राज-प्रासाद के योग्य हैं, यह खम्भे के योग्य है, यह तोरण के योग्य है और यह परिघ (भोगल) आगल, नाव जलकुंडी, या छोटी नाव के योग्य है। ये वृक्ष पीढ़ा, चंगेर, हल, मयिक (बोये हुए बीजों को ढकने वाला उपकरण), कोल्हू, नाभि (पहिये का मध्य भाग) अथवा एरन के योग्य है। इन वृक्षों में आसन शयन यान और उपाश्रय के योग्य कुछ काष्ठ-भाग हैं, इस प्रकार की भूतोपघात्तिनी वृक्षादि को पीड़ा पहुंचाने वाली भाषा बुद्धिमान् साधुओं को नहीं बोलना चाहिए।

(३०—३१)

दोहा— तथा उपवननि वनानि में गये गिरिनि के थान।
देखि बड़े द्रुम ए वचन मुख उचरै मतिमान॥

पद्धरी— ए विरछ अहैं वर जातिवंत, दीरघ वृत बहु विस्तार वंत।
लघु दीरघ शाखा जात आहि, 'देखन लायक' यों कहै ताहि॥

अर्थ—तथा कभी उद्यान पर्वत या वनों में जावे तो वहां बड़े वृक्षों को देख कर (प्रयोजनवश कहना पड़े तो) प्रज्ञावान भिक्षु इस प्रकार कहे—ये वृक्ष उत्तम जाति के हैं, लम्बे ऊँचे हैं, गोल हैं, बहुत विस्तार वाले हैं, शाखा-प्रशाखाओं से युक्त हैं, सघन छायावाले हैं और दर्शनीय हैं।

(३२—३३)

पद्धरी— फल पके खान-लायक पकाय, ए लैन-समय-लायक तथा य।
तोड़न लायक कोमल जु आहिं, दुइ-भाग-जोग, यों कहै नाहिं॥

सवैया— ए तरु आम अहैं असमर्थ फलानि के भारहु कों सहिवे में,
है गुठली जुत भूरि फला, इन भूरि पके फल पावहिवे में।
वा इनमें फल ऐसे हु है, गुठली को बनाव बन्यों नहिं वे में,
बोलत तो अस दोस बिना वच वाक विचार करे कहिवे में॥

अर्थ—(जिस प्रकार वृक्षों के विषय में सावद्य भाषा बोलने का निषेध है, उसी प्रकार फलों के विषय में भी सावद्य भाषा न बोले कि) ये फल स्वतः पक गये हैं, अथवा ये पकाकर खाने के योग्य हैं, इस प्रकार न बोले। तथा ये फल वेलोचित (अविलम्ब तोड़ने के योग्य) हैं, इनमें गुठली नहीं पड़ी है, ये दो टुकड़े (फांक) करने योग्य हैं, इस प्रकार न कहे। यदि प्रयोजन-वश कहना पड़े तो ये आम्रवृक्ष अब फल-धारण करने में असमर्थ हैं, बहुनिर्वर्तित (प्रायः निष्पन्न) फलवाले हैं, बहुसंभूत (एक साथ उत्पन्न बहुत फलवाले) हैं, अथवा भूतरूप (कोमल) हैं, इस प्रकार से कहे।

(३४—३५)

मूल— तहेवोसहीओ पक्काओ नीलियाओ छवीइ य ।
लाइमा भज्जिमाओ त्ति पिहुखज्ज त्ति नो वए ॥
रूढा बहुसंभूया थिरा ऊसढा वि य ।
गब्भियाओ पसूयाओ ससाराओ त्ति आलवे ॥

संस्कृत— तथैवौषधयः पक्वाः नीलिकाश्छविमत्यः ।
लवनीया भर्जनीया इति पृथुखाद्या इति नो वदेत् ॥
रूढा बहुसम्भूताः स्थिरा उच्छ्रता अपि च ।
गर्भिताः प्रसूताः ससारा इत्यालपेत् ॥

(३६—३७)

मूल— तहेव संखडिं नच्चा किच्चं कज्जं ति नो वए ।
तेणगं वावि वज्झे त्ति सुतित्थ त्ति य आवगा ॥
संखडिं संखडिं बूया पणियट्ठ त्ति तेणगं ।
बहुसमाणि तित्थाणि आवगाणं वियागरे ॥

संस्कृत— तथैव संस्कृतिं ज्ञात्वा कृत्यं कार्यमिति नो वदेत् ।
स्तेनकं वापि वध्य इति सुतीर्था इति चापगाः ॥
संस्कृतिं संस्कृतिं ब्रूयात् पणितार्थं इति स्तेनकम् ।
बहुसमानि तीर्थानि आपगानां व्यागृणीयात् ॥

(३४—३५)

सवैया— **पाकि रहे यह औषधि धान, तथा इनमें छवि श्यामल छाई,**
लूनन-लायक, भूनन-लायक, खानन-लायक, आधि पकाई।
ऐसे सदोष करै नहिं भासन, यों जिनशासन रीति जमाई,
है मुनि-नायक वायक की यह रीति विचारन लायक भाई ॥

कवित्त—

ऐसे कहूं धाननि में आनन उचारन को आन बनै कारन तो ऐसे कछु कहिये,
विढ़ भये अंकुर, अधिक निसपना भये, थिर भये धान, ऐसे देखन में लहिये ।
'विघ्ननि तें बचि गये, सिट्टे नहिं कढ़े अजौं, सिट्टे कढ़ि आये ऐसे देखनि में लहिये,
सिट्टनि में बीज हू परे हैं, ऐसे दोस-हीन, हिंसा-भावहीन वैन आनन सों कहिये ।।

अर्थ—इसी प्रकार ये औषधिया पक गईं हैं, ये अपक्व हैं, ये छवि (फली) वाली हैं, ये काटने के योग्य हैं, ये भूनने के योग्य हैं, ये चिड़वा—होला-बनाकर खाने के योग्य हैं, इस प्रकार न बोले। (यदि कार्यवश बोलना ही पड़े तो) औषधियां अंकुरित हैं, निष्पन्न-प्राय हैं, स्थिर हैं, ऊपर उठ गई हैं, भुट्टों से रहित हैं, भुट्टों के सहित हैं, धान्य-कण-युक्त हैं, इस प्रकार से बोले।

(३६—३७)

दोहा— **जानै जीमनवार कहुं, लों न कहैं मुनि लोग ।**
यह कारज आछी अहै, अथवा करनहिं जोग ॥
तथा चोर लखि 'चोर यह' मारन लायक आहि ।
तिरन-जोग नीके नदी, ऐसे उचरे नाहि ॥

अरिल्ल—

जीमनवार हि कहिये जीमनवार है, चोरहि कहिये स्वारथ-साधन-हार है।
प्राननि को दुख देत अरथ को धारिये, 'सरिता समतल तीर' आदि उचारिये ॥

अर्थ--इसी प्रकार संखडि (जीमनवार और मृत्युभोज) को जानकर 'ये कृत्य करणीय हैं, चोर मारने के योग्य है और नदी सुतीर्थ (उत्तम घाटवाली) है, इस प्रकार न कहे। (यदि प्रयोजनवश कहना पड़े तो) तो संखड़ी को संखड़ी बोले, चोर को पणितार्थ (धन के लिए प्राणों की बाजी लगाने वाला) कहै और नदी का घाट प्रायः समतल है, ऐसा कहे।

(३८—३९)

मूल— तहा नईओ पुण्णाओ कायतिज्ज त्ति नो वए ।
नावाहिं तारिमाओत्ति पाणिपेज्ज त्ति नो वए ॥
बहुवाहडा अगाहा बहुसलिलुप्पिलोदगा ।
बहुवित्थडोदगा यावि एवं भासेज्ज पन्नवं ॥

संस्कृत— तथा नद्यः पूर्णाः कायतार्या इति नो वदेत् ।
नौभिस्तार्या इति प्राणिपेया इति नो वदेत् ॥
बहुप्रभृता अगाधा बहुसलिलोत्पीडोदका ।
बहुविस्तृतोदकाश्चापि एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥

(४०—४१)

मूल— तहेव सावज्जं जोगं परस्सट्ठाए निट्ठियं ।
कीरमाणं त्ति वा नच्चा सावज्जं न लवे मुणी ॥
सुकडे त्ति सुपक्के त्ति सुछिन्ने सुहडे मडे ।
सुनिट्ठिए सुलट्ठे त्ति सावज्जं वज्जए मुणी ॥

संस्कृत— तथैव सावद्यं योगं परस्यार्थाय निष्ठितम् ।
क्रियमाणमिति वा ज्ञात्वा सावद्यं न लपेन्मुनिः ॥
सुकृतमिति सुपक्वमिति सुच्छिन्नं सुहृतं मृतम् ।
सुनिष्ठितं[1] सुलष्टमिति सावद्यं वर्जयेन्मुनिः ॥

---

१ **टिप्पणी**—सुकृतं—अन्नादि, सुपक्वं—घृतपूर्णादि, सुच्छिन्नं—पत्र-
सुहृतं—शाकादेस्तिक्ततादि, सुमृतं घृतादि सक्तुसूपादौ, सुनिष्ठितं रस
निष्ठांगतम्, सुलष्टं शोभनं शाल्यादि-अखण्डोज्ज्वलादि प्रकारैरेवमन्यदपि
वर्जयेन्मुनिः । (उत्तराध्ययन १।३६ सर्वार्थसिद्धिटीका) यद्वा सुष्ठुकृतं यदनेनारात
प्रतिकृतम् । सुपक्वं पूर्ववत् । सुच्छिन्नोऽयं न्यग्रोधद्रुमादिः, सुहृतं—कन्दर्पस्य धनं
चौरादिभिः, सुमृतोऽयं प्रत्यनीकधिग्वर्णादिः, सुनिष्ठितोऽयं प्रासादादिः सुलष्टोऽयं
करितुरगादिरिति सामान्येनैव सावद्यं वचो वर्जयेत्मुनिः । निरवद्यं तु सुकृतमनेन
धर्मध्यानादि, सुपक्वमस्य वचनविज्ञानादि, सुच्छिन्नं स्नेहनिगडादि, सुहृतोऽय-
मुत्प्राव्राजयितु कामेभ्यो निजकेभ्यः शैक्षिकः सुमृतमस्य पण्डितमरणेन, सुनिष्ठितोऽयं
साध्वाचारे, सुलष्ठोऽयं दारको व्रतग्रहणस्येत्यादिरूपम् ।

—उत्तराध्ययन, नेमिचन्द्रवृत्ति १।३६

(३८—३९)

दोहा · **तथा नदी जलसों भरी, तरी तरी सों जाहि ।**
करन-तरन, जिय-पियन के जोग कहै यों नांहि ॥
बहुत भरी गहरी नदी, विथरी जल विस्तार ।
अपर नदी लोपी खरी बुध उचरे सुविचार ॥

अर्थ— तथा नदियां भरी हुई हैं, शरीर के द्वारा पार करने के योग्य हैं, नौका के द्वारा पार करने योग्य हैं और तट पर बैठे हुए प्राणी उनका जल पी सकते हैं, इस प्रकार न कहे । यदि प्रयोजन के वश कहना ही पड़े तो बुद्धिमान् साधु इस प्रकार कहे कि ये नदियां बहुत भरी हुई हैं, अगाध हैं, बहुसलिला हैं, दूसरी नदियों के द्वारा जल का वेग बढ़ रहा है और बहुत विस्तीर्ण जलवाली हैं ।

(४०—४१)

दोहा— **कियो गयो, जावत कियो, कियो जायगो जाहि ।**
जोग स-पाप, परार्थ सो, लखि भाखै मुनि नाँहि ॥
भलो कियो, पचियो भलो, छेद्यो भलो जु याहि ।
भलो हरयो, यह भल मरयो, यों उचरै मुनि नांहि ॥
भल विनास याको भयो, भली विवाहै एइ ।
ऐसे बोल सदोस जे, मुनिवर वरजै तेइ ॥

अर्थ— इस प्रकार दूसरे के लिए भूतकाल में किये गये, वर्तमान काल में किये जा रहे और भविष्य काल में किये जानेवाले सावद्ययोग (पापयुक्त) व्यापार को जानकर मुनि सावद्य वचन न बोले कि यह प्रीतिभोज आदि कार्य अच्छा किया, अथवा यह सभा-भवन आदि अच्छा बनवाया, यह भोजन या तेल आदि अच्छा पकाया, यह भयकर वन काट दिया सो अच्छा किया, इस कंजूस का धन चोर चुरा ले गये सो अच्छा हुआ, वह दुष्ट मर गया सो अच्छा हुआ, इस धनाभिमानी का धन नष्ट हो गया सो उत्तम हुआ, यह कन्या जवान है, अतः विवाह करने के योग्य है, इस प्रकार के सावद्य वचन साधु न बोले । किन्तु इस प्रकार के निरवद्य वचन बोले कि इसने वृद्ध मुनियों की अच्छी सेवाशुश्रूषा की, इस मुनि ने ब्रह्मचर्य का अच्छा पालन किया, अमुक मुनि ने सांसारिक स्नेह बन्धनों को अच्छी तरह काट दिया है, यह मुनि उपसर्ग के समय भी ध्यान में खूब दृढ़ रहा, अथवा इस तत्त्वज्ञ मुनि ने उपदेश द्वारा शिष्य का अज्ञान दूर कर दिया, अमुक मुनि को अच्छा पंडितमरण प्राप्त हुआ कि इस अप्रमादी मुनि के सर्व कर्मों का नाश हो गया, अमुक मुनि की क्रिया बहुत सुन्दर है, इस प्रकार की निर्दोष भाषा को मुनि बोले ।

(४२)

मूल— पयत्तपक्के त्ति व पक्कमालवे
पयत्त छिन्न त्ति व छिन्नमालवे ।
पयत्तलट्ठ त्ति कम्महेउअं
पहार गाढ त्ति व गाढमालवे ॥

संस्कृत— प्रयत्नपक्वमिति वा पक्वमालपेत्
प्रयत्नछिन्नमिति वाछिन्नमालपेत् ।
प्रयत्नलष्टमिति वा कर्महेतुकं
गाढप्रहारमिति वा गाढमालपेत् ॥

(४३)

मूल— सव्वुक्कसं परग्घं वा अउलं नत्थि एरिसं ।
अवक्कियमवत्तव्वं अचियत्तं चेय नो वए ॥

संस्कृत— सर्वोत्कर्षं परार्घं वा अतुलं नास्ति ईदृशम् ।
अविक्रेयमवक्तव्यं 'अचियत्तं' चैव नो वदेत् ॥

(४४)

मूल— सव्वमेयं वइस्सामि सव्वमेयं ति नो वए ।
अणुवीइ सव्वं सव्वत्थ एवं भासेज्ज पन्नवं ॥

संस्कृत— सर्वमेतद् वदिष्यामि सर्वमेतदिति नो वदेत् ।
अनुविविच्य सर्वं सर्वत्र एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥

कुछ आचार्य इन सुकृत आदि पदों का इस प्रकार से अर्थ करते हैं—सुकृत-भोजन आदि बहुत अच्छा बनाया है, सुपक्व—बहुत अच्छा पकाया है, सुच्छिन्न-घेवर आदि बहुत अच्छा छेदा है, सुहृत—पत्र-शाक आदि की तिक्तता को बहुत अच्छा हरण किया है, मृत-दाल या सत्तू आदि में घी आदि बहुत अच्छा भरा है - समाया है, सुनिष्ठित—बहुत अच्छा रस निष्पन्न हुआ है, सुलष्ट—चावल आदि बहुत इष्ट है, इस प्रकार के सावद्य वचन मुनि नहीं बोले।

(४२)

छन्द— यह प्रयत्न सों गयो पकायो, ऐसो कहे पके के हेत,
यह प्रयत्न करि छेदन कीनो, ऐसो छेदे को कह देत।
पालनीय कन्या प्रयत्न सों कहै जु दीक्षित होय उदार,
नाँहि तो कहै कर्म को कारन, गाढ प्रहार हि गाढ प्रहार॥

अर्थ—यदि कदाचित् इनके विषय में बोलना पड़े तो सुपक्व को प्रयत्न-पक्व कहे, छिन्न वनादि के विषय में प्रयत्न-छिन्न कहे, कन्या के विषय में यह कन्या प्रयत्न से सावधानीपूर्वक पालन-पोषण की गई है, अथवा यदि कन्या दीक्षा ले ले —तो संयम को उत्तम रीति से पाल सकती है, कर्महेतुक शृंगारादि-क्रियाओं को कर्मबन्ध का कारण कहे, तथा गाढ़ प्रहार को यह घाव बहुत गहरा है, इस प्रकार से कहे।

(४३)

छन्द— सबसे उत्तम यही वस्तु है, अथवा बड़े मोल की आहि,
अथवा अतुलनीय है यह तो, या सम कहूँ दूसरी नाँहि।
नहीं बेंचवे जोग अहै यह, अथवा अकथनीय यह आहि,
प्रीति तथा अप्रीति कारिनी है यह ऐसो कहिये नाँहि।

अर्थ—यह वस्तु सर्वोत्कृष्ट है, यह बहुमूल्य है, यह अतुलनीय है, यह अभी बेचने योग्य नहीं है. इसका गुण अवर्णनीय है, यह अचिन्त्य है, इस प्रकार गृहस्थ से बात नहीं करे।

(४४)

दोहा— हूँ, यह सब कहि देउँगो, तुम कहियो यह सारि।
यों न कहै सब ठौर बुध, कहै सबै सु विचार॥

अर्थ—(यदि कोई सन्देश कहलाए तब) मैं यह सब कह दूंगा, (किसी को सन्देश देता हुआ) यह पूर्ण है—ज्यों का त्यों है—इस प्रकार न कहे। सब स्थानों में (सब प्रश्नों में) पूर्वोक्त सब वचन-विधियों का अनुचिन्तन कर प्रज्ञावान् मुनि उस प्रकार से बोले-जिस प्रकार से कि कर्म-बन्ध न हो।

(४५)

मूल— सुक्कीयं वा सुविक्कीयं अकेज्जं केज्जमेव वा ।
इमं गेण्ह इमं मुंच पणियं नो वियागरे ॥

संस्कृत— सुक्रीतं वा सुविक्रीतं अक्रेयं क्रेयमेव वा ।
इदं गृहाण इदं मुञ्च पण्यं नो व्यागृणीयात् ॥

(४६)

मूल— अप्पग्घे वा महग्घे वा कए वा विक्कए वि वा ।
पणियट्ठे समुप्पन्ने अणवज्जं वियागरे ॥

संस्कृत— अल्पार्घे वा महार्घे वा क्रये वा विक्रयेऽपि वा ।
पण्यार्थे समुत्पन्ने अनवद्यं व्यागृणीयात् ॥

(४७)

मूल— तहेवासंजयं धीरो आस एहि करेहि वा ।
सय चिट्ठ वयाहि त्ति नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥

संस्कृत— तथैवासंयतं धीरः आस्व एहि कुरु वा ।
शेष्व तिष्ठ व्रज इति नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥

(४८—४९)

मूल— बहवे इमे असाहू लोए वुच्चंति साहुणो ।
न लवे असाहुं साहुत्ति साहुं साहु त्ति आलवे ॥
नाण-दंसणसंपण्णं संजमे य तवे रयं ।
एवं गुण समाउत्तं संजयं साहुमालवे ॥

(४५)

रोला— भलो मोल यह लयो, भलो तुम बेचि दियो वह,
नहीं विसाहन-जोग, विसाहन जोग अहै यह।
ग्रहन करो यह माल, बेच याको तुम डारो,
ऐसे वचन अजोग, मुने ! तुम नाहिं उचारो ॥

अर्थ—सुक्रीत—तुमने यह माल खरीद लिया सो अच्छा किया, सुविक्रीत—तुमने अमुक माल बेच दिया सो ठीक किया, यह वस्तु अक्रेय—खरीदने के योग्य नहीं है, अथवा यह क्रेय—खरीदने के योग्य है, यह वस्तु इस समय खरीद लो, क्योंकि इसमें आगे चलकर लाभ होगा, इस समय यह वस्तु बेच डालो, क्योंकि आगे जाकर इसमें नुकसान होगा, इस प्रकार साधु न बोले।

(४६)

दोहा—अलप तथा बहुमोल के, क्रय-विक्रय कों लीन।
पणित-हेतु-उतपत्ति भये, कहिये दोस-विहीन ॥

अर्थ—अल्पमूल्य या बहुमूल्य माल के लेने या बेचने के प्रसंग में मुनि अनवद्य (निर्दोष) वचन बोले। (क्रय-विक्रय से विरत मुनियों का इस विषय में कई अधिकार नहीं है, इस प्रकार कहे।)

(४७)

दोहा—आव, जाव, अथवा ठहर, बैठ सोउ कर एह।
यों न असंजति सों कहै, धीरवंत मति-गेह ॥

अर्थ— इसी प्रकार धीर और प्रज्ञावान् मुनि असंयत गृहस्थ से बैठ जा, आ जा, अमुक कार्य कर, सो जा, ठहर जा, खड़ा हो जा, चला जा, इस प्रकार न कहे।

(४८—४९)

दोहा— ये असाधु बहु जगत में, कहे जात हैं साधु।
कहै न साधु असाधु कों, कहै साधुकों साधु ॥
ज्ञान-सहित दर्शन-सहित, संजम - तप - अनुरक्त।
'साधु' कहै वा संजतिहिं, जो इन गुन से युक्त ॥

संस्कृत— बहव इमे असाधवः लोके उच्यन्ते साधवः ।
न लपेदसाधुं साधुरिति साधुं साधुरित्यालपेत् ॥
ज्ञान - दर्शनसम्पन्नं संयमे च तपसि रतम् ।
एवं गुणसमायुक्तं संयतं साधुमालपेत् ॥

(५०)

मूल— **देवाणं मणुयाणं च तिरियाणं च वुग्गहे ।**
अमुयाणं जओ होउ मा वा होउ त्ति नो वए ॥

संस्कृत— देवानां मनुजानांच तिरश्चां च व्यद्ग्रहे ।
अमुकानां जयो भवतु मा वा भवतु इति नो वदेत् ॥

(५१)

मूल— **वाओ वुट्ठं वा सीउण्हं खेमं धायं सिवं ति वा ।**
कयाणु होज्ज एयाणि मा वा होउ त्ति नो वए ॥

संस्कृत— वातो वृष्टं वा शीतोष्णं क्षेमं 'धायं' शिवमिति वा ।
कदा नु भवेयुरेतानि मा वा भवेयुरिति नो वदेत् ॥

(५२)

मूल— **तहेव मेहं व नहं व माणवं**
न देव देवे त्ति गिरं वएज्जा ।
सम्मुच्छिए उन्नए वा पओए
वएज्ज वा वुट्ठ बलाहए त्ति ॥

सस्कृत— तथैव मेघं वा नभो वा मानवं न देव देव इति गिरं वदेत् ।
सम्मूर्च्छितः उन्नतो वा पयोदो वदेद्वा वृष्टो बलाहकः ॥

(५३)

मूल— **अंतलिक्खे त्ति णं बूया गुज्झाणुचरिय त्ति य ।**
रिद्धिमंतं नरं दिस्स रिद्धिमंतं ति आलवे ॥

संस्कृत— अन्तरिक्षमिति तद् ब्रूयाद् गुह्यानुचरितमित च ।
ऋद्धिमंतं नरं दृष्ट्वा ऋद्धिमान् इति आलपेत् ॥

अर्थ—ये बहुत सारे असाधु लोक (जन-साधारण) में साधु कहलाते हैं। किन्तु प्रज्ञावान् मुनि असाधु को साधु न कहे, किन्तु जो साधु हो उसे ही साधु कहे। जो ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न हो, संयम और तप में निरत हो, ऐसे गुणों से संयुक्त संयमी को ही साधु कहे।

(५०)

दोहा—सुरनि नरनि तिरजंच में, रन होवत जो आहि।
अमुकनि की जय हो न हो, ऐसें उचरें नाँहि॥

अर्थ— देव, मनुष्य और तिर्यंचों (पशु-पक्षियों) का आपस में विग्रह (युद्ध या कलह) होने पर अमुक की विजय हो और अमुक की विजय न हो, इस प्रकार साधु न कहे।

(५१)

दोहा—बात वृष्टि हिम घाम अरु, खेम सुकाल कल्यान।
कब हुइ हैं, वा होउ मति, ऐसी कहै न बान॥

अर्थ—वायु, वर्षा, सर्दी, गर्मी, क्षेम, सुभिक्ष और शिव (कल्याण) ये कब होंगे, अथवा ये न हों तो अच्छा हो, इस प्रकार साधु नहीं बोले।

(५२)

दोहा—मेघ मनुज नभकों तथा, देव 'देव' उचरै न।
चढ़्यौ बढ़्यो घन बरसिवे, कहै बलाहक बैन॥

अर्थ इसी प्रकार मेघ, नभ (आकाश) और मनुष्य के लिए 'ये देव हैं' ऐसी वाणी न बोले। किन्तु मेघ सम्मूर्च्छित हो रहा है (ऊपर चढ़ रहा है), उमड़ रहा है, अथवा झुक रहा है या बलाहक (मेघ) बरस गया है, इस प्रकार बोले।

(५३)

दोहा अंतरिक्ष नभ सों कहै, सुरगन-सेवित एह।
रिद्धिवंत नर हेरि के, रिद्धिवंत कहि देह॥

अर्थ—नभ और मेघ को अन्तरिक्ष अथवा गुह्यानुचरित (देव-सेवित) कहे। ऋद्धिमान् मनुष्य को देखकर 'यह ऋद्धिमान् पुरुष है' ऐसा कहे।

(५४)

मूल—

तहेव सावज्जणुमोइणी गिरा
ओहारिणी जा य परोवघायिणी ।
से कोह लोह भयसा व माणवो
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥

संस्कृत—

तथैव सावद्यानुमोदिनी गीः
अवधारिणी या च परोपघातिनी ।
सक्रोध-लोभ भयेन वा मानवो
न हसन्नपि गिरं वदेत् ॥

(५५)

मूल—

सवक्कसुद्धि समुपेहिया मुणि
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया ।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए
सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥

संस्कृत—

सवाक्यशुद्धि समुत्प्रेक्ष्य मुनि
गिरं च दुष्टां परिवर्जयेत्सदा ।
मितामदुष्टां अनुविविच्य भाषकः
सतां मध्ये लभते प्रशंसनम् ।

(५६)

मूल—

भासाए दोसे य गुणे य जाणिया
तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया ।
छसु संजए सामणिए सया जए
वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ॥

संस्कृत—

भाषायाः दोषांश्च गुणांश्च ज्ञात्वा
तस्याश्च दुष्टायाः परिवर्जकः सदा ।
षट्सु संयतः श्रामण्ये सदा यतः
वदेद् बुद्धो हितमानुलोमिकीम् ॥

(५४)

सवैया— वानि जु निश्चय संसय कारनि, पापनि की अनुमोदन-हारी,
जामें बसै पर-हानि सदा, वह प्राणनि-घात-करावन-हारी।
कोपतें लोभतें वा भयतें अरु, हासतें हास-विनोद विचारी,
सो कबहुँ न कहै मुखते मुनि, जो निज-आतम को उपकारी॥

अर्थ – इसी प्रकार सावद्य का अनुमोदन करनेवाली, निश्चयकारी, संशय करने वाली और जीवघात करनेवाली भाषा को मुनि न बोले। तथा क्रोध से, भय से, लाभ से और हास्य से भी दूसरों की हंसी करता हुआ न बोले।

(५५)

छंद— भली भांति सद्वचन शुद्धिकों आलोचन करके मुनि धीर,
बरजै सदा दुष्ट वाणी को जातें होय औरकों पीर।
हिये विचारि वचन मित बोले जामें दूषण कछू न होय,
गुणी साधु सज्जन लोगनि में सदा प्रशंसा पावै सोय॥

अर्थ – वह मुनि वाक्यशुद्धि को भली भांति से समझकर सदोष वाणी का सदा परिहार करे। किन्तु हित, मित और प्रिय वाणी सोच-विचार कर बोले। ऐसा बोलने वाला साधु सज्जनों के मध्य में सदा प्रशंसा पाता है।

(५६)

छंद— वानी के गुन दोस जानि के सदा दुष्ट वच वरजन हार,
षट् विधि जीव-विघातक-वर्जक जतनसील जो है अनगार।
श्रमण भाव राखन में उद्यत, रहत सदा ज्ञानी सविचार,
बोलै वचन सकल-हितकारी, जामें दूसन नाहिं लगार॥

अर्थ - भाषा के दोषों और गुणों को जानकर दोष-पूर्ण भाषा को सदा बोलना छोड़े और छह काय के जीवों के प्रति संयम रखने वाला, श्रामण्य में सदा सावधान रहनेवाला प्रबुद्ध संयत हितकारी और प्राणियों के अनुकूल भाषा बोले।

(५७)

मूल— परिक्खभासी सुसमाहिइंदिए
चउक्कसायावगए अणिस्सिए।
स णिद्धुणे धुन्नमलं पुरेकडं
आराहए लोगमिणं तहा परं ॥

—त्ति बेमि

संस्कृत— परीक्ष्य भाषी सुसमाहितेन्द्रियोऽ
पगतकषायचतुष्कोऽनिश्रितः।
स निर्धूय धुन्नमलं पुराकृतं
आराधयेल्लोकमिमं तथा परम् ॥

—इति ब्रवीमि

। सत्तम वक्कसुद्धि अज्झयणं सम्मत्तं ।

(५७)

कवित्त—

करि के परख पूरी बोलत विमल वैन इन्द्रिय-समूह जीति कीनो बस जोई है,
कोह मान माया लोह चारिउं कसाय टारी जाके प्रतिबन्ध कोऊ रह्यो नहीं कोई है।
पूरब के कीने कर्म-मल को धुनन कर आतम सों दूरि करि देत साधु सोई है,
यहां जस पावै, उत उत्तम गतीकों जावै, इह परलोक सो अराध लेत दोई है॥

अर्थ—गुण-दोष की परख कर बोलने वाला, इन्द्रियों को जीतनेवाला, चारों कषायों से रहित, अनिश्रित (सांसारिक प्रपंचों से मुक्त, मध्यस्थ) साधु पूर्वकृत पापमल को नष्ट कर इस लोक तथा परलोक दोनों की सम्यक्प्रकार आराधना करता है, अर्थात् कर्मक्षय कर सिद्धलोक को प्राप्त करता है।

ऐसा मैं कहता हूं।

। सप्तम वाक्यशुद्धि अध्ययन समाप्त ।

अट्ठमं आयारपणिही अज्झयणं

(१)

मूल— **आयारप्पणिहिं लद्धुं जहा कायव्व भिक्खुणा ।**
तं भे उदाहरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे ॥

संस्कृत— आचार-प्रणिधिं लब्ध्वा यथा कर्तव्यं भिक्षुणा ।
तं भवद्भ्यः उदाहरिष्यामि आनूपूर्व्या शृणुत मे ॥

(२)

मूल— **पुढवि दग अगणि मारु य तणरुक्ख सबीयगा ।**
तसा य पाणा जीव त्ति इइ वुत्तं महेसिणा ॥

संस्कृत— पृथिवीदकाग्निमारुताः तृणवृक्षाः सबीजकाः ।
त्रसाश्च प्राणाः जीवा इति इत्युक्तं महर्षिणा ॥

(३)

मूल— **तेसिं अच्छणजोएण निच्चं होयव्वयं सिया ।**
मणसा कायवक्केण एव भवइ संजए ॥

संस्कृत— तेषामक्षणयोगेन नित्यं भवितव्यं स्यात् ।
मनसा कायवाक्येन एवं भवति संयतः ॥

(४—५)

मूल— **पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं नेव भिंदे न संलिहे ।**
तिविहेण करण जोएण संजए सुसमाहिए ॥
सुद्धपुढवीए न निसिए ससरक्खम्मि य आसणे ।
पमज्जित्तु निसीएज्जा जाइत्ता जस्स ओग्गहं ॥



अष्टम आचार-प्रणिधि अध्ययन

(१)

वसन्ततिलका—

आचार नामक निधान महान नीको, सो पाय के उचित जो करनो मुनी को ।
सो आपसों क्रम-समेत हि भाखि हों सों, ह्वै सावधान सुनिये वह आप मोसों ।।

अर्थ—आचार-प्रणिधि अथवा सदाचार के भंडार स्वरूप साधुत्व को पाकर के भिक्षु को जिस प्रकार से जो कार्य करना चाहिए, यह मैं आपको कहूंगा सो क्रमपूर्वक मुझ से सुनो ।

(२)

दोहा पुहवि पानि पावन पवन, तन तरु बीजहु जेह ।
त्रस ये प्रानी जीव है, कह्यौ महारिषि पेह ।।

अर्थ—पृथिवी, उदक (जल), अग्नि, वायु, तृण-वृक्ष और बीजरूप वनस्पतिकाय तथा त्रस प्राणी, ये सब जीव हैं, इस प्रकार महर्षि महावीर ने कहा है ।

(३)

दोहा—तिनके संग रखनी सदा, हिंसा-हीन सुनीति ।
मनसों वचसों कायसों, होत साधु यह रीति ।।

अर्थ—भिक्षु को मन, वचन और काय से उक्त षट्काय जीवों के प्रति अहिंसक होना चाहिए । इस प्रकार अहिंसक वृत्ति साधु ही संयत या संयमी होता है ।

(४—५)

दोहा— भूमि भीति सिल ईंट खंड, भेदै घसै न कोय ।
संजति त्रिकरण - जोगसों, जो समाधि-युत होय ।।

चौपाई— सचित धरनि पर बैठिय नाहीं, त्यों आसन रज लागी जाही ।
अधिकारी की आयसु लेकर, पूंजन करि बैठे ता ऊपर ।।

संस्कृत— पृथिवीं भित्तिं शिलां लेष्टुं नैव भिन्द्यान्न संलिखेत् ।
त्रिविधेन करण-योगेन संयतः सुसमाहितः ॥
शुद्धपृथिव्यां न निषीदेत् ससरक्षे च आसने ।
प्रमृज्य निषीदेत याचित्वा यस्यावग्रहम् ॥

(६—७)

मूल— **सीओदगं न सेवेज्जा सिलावुट्ठं हिमाणि य ।**
उसिणोदगं तत्तफासं पडिगाहेज्ज संजए ॥
उदउल्लं अप्पणो कायं नेव पुंछे न संलिहे ।
समुप्पेह तहाभूयं नो णं संघट्टए मुणी ॥

संस्कृत— शीतोदकं न सेवेत शिलावृष्टं हिमानि च ।
उष्णोदकं तप्तप्रासुकं प्रतिगृह्णीयात् संयतः ॥
उदकार्द्र मात्मनः कायं नैव प्रोञ्छेत् न संलिखेत् ।
समुत्प्रेक्ष्य तथाभूतं नैनं संघट्टयेन्मुनिः ॥

(८)

मूल— **इंगालं अगणिं अच्चिं अलायं वा सजोइयं ।**
न उंजेज्जा न घटेज्जा नो णं निव्वावए मुणी ॥

संस्कृत— अङ्गारमग्निमर्चिः अलातं वा सज्योतिः ।
नोत्सिञ्चेन्न घट्टयेत् नैनं निर्वापयेन्मुनिः ॥

(९)

मूल— **तालियंटेण पत्तेण साहाविहुयणेण वा ।**
न वीएज्ज अप्पणो कायं बाहिरं वा वि पोग्गलं ॥

संस्कृत— तालवृन्तेन पत्रेण शाखा-विधुवनेन वा ।
न व्यजेदात्मनः कायं बाह्यं वापि पुद्गलम् ॥

(१०)

मूल— **तणरुक्खं न छिंदेज्जा फलं मूलं व कस्सई ।**
आमगं विविहं बीयं मणसा वि न पत्थए ॥

संस्कृत— तृणवृक्षं न छिन्द्यात् फलं मूलं च कस्यचित् ।
आमकं विविधं बीजं मनसापि न प्रार्थयेत ॥

अर्थ—संयम की आराधना में समाधिवन्त साधु सचित्त पृथ्वी को, भीत को, शिला को, मिट्टी के ढेले को तीन करण और तीन योग से न तो उन्हें भेदे (टुकड़ा करे) और न घिसे। अर्थात् उन पर लकीर आदि न करे। वह शुद्ध (शस्त्र से अपरिणत) पृथ्वी पर और सचित्त रज से संसृष्ट (भरे हुए) आसन पर न बैठे। अचित्त पृथ्वी का प्रमार्जन कर और उसके स्वामी से आज्ञा लेकर बैठे।

(६—७)

चौपाई— संजति सीतल जल नहिं सेवे, हिम हिम-उपलनि कों नहिं लेवे।
तपि के अचित भयो जो होई, ऊन्हो उदक गहीजे सोई॥
सचित-सलिल-भीगी निज काया, तो न मलै पूंछै मुनिराया।
वैसी भांति देखि काया को, किंचित परसहु करै न ताको॥

अर्थ—संयमी साधु शीतल जल, ओले, बरसात का जल और हिम (बर्फ) का सेवन न करे। तप कर जो प्रासुक हो गया है वैसा जल ग्रहण करे। जल से भीगे अपने शरीर को न पोंछे और न मले। शरीर को भीगा हुआ देखकर उसका स्पर्श न करे।

(८)

चौपाई— अगनि लोह-गत वा अंगारो, ज्वाल जोति-जुत काठ विचारो।
नहिं धोंके, न करै संघरसन, नहिं मुनि वाको करे निवारन॥

अर्थ—मुनि अंगार, अग्नि, अर्चि और ज्योति-सहित अलात (जलती लकड़ी) —न प्रदीप्त करे, न स्पर्श करे और न बुझाये।

(९)

दोहा—ताल-व्यजनतें पत्रतें, वा तरु-डाल हिलाय।
बाहिज पुदगल कों तथा वीजै नहिं निज काय॥

मुनि तालवृन्त के पंखे से, बीजने से, पत्र या शाखा से अपने शरीर को हवा न करे। इसी प्रकार बाहिरी पुद्गल (गर्म दूध आदि) को ठंडा करने के लिए भी हवा न करे।

(१०)

दोहा—तरु तृन को फल मूल कों, छेदन करै न कोय।
बहुविधि बीज सजीव को, चित हु न चाहै सोय॥

अर्थ—साधु तृण (घास) वृक्षादि को तथा किसी वृक्षादि के फल और मूल को तथा नाना प्रकार के सचित्त बीजों की मन से भी इच्छा न करे।

(११)

मूल— गहणेसु न चिट्ठेज्जा बीएसु हरिएसु वा ।
उदगम्मि तहा निच्चं उत्तिगपणगेसु वा ॥

संस्कृत— गहनेषु न तिष्ठेद् बीजेषु हरितेषु वा ।
उदके तथा नित्यं उत्तिगपनकेषु वा ॥

(१२)

मूल— तसे पाणे न हिंसेज्जा वाया अदुव कम्मुणा ।
उवरओ सव्वभूएसु पासेज्ज विविहं जगं ॥

संस्कृत— त्रसान् प्राणान् न हिंस्यात् वाचा अथवा कर्मणा ।
उपरतः सर्वभूतेषु पश्येद् विविधं जगत् ॥

(१३)

मूल— अट्ठ सुहुमाइं पेहाए जाइं जाणित्तु संजए ।
दयाहिगारी भूएसु आस चिट्ठ सएहि वा ॥

संस्कृत— अष्टौ सूक्ष्माणि प्रेक्ष्य यानि ज्ञात्वा संयतः ।
दयाधिकारी भूतेषु आस्व उत्तिष्ठ शेष्व वा ॥

(१४—१५)

मूल— कयराइं अट्ठ सुहुमाइं जाइं पुच्छेज्ज संजए ।
इमाइं ताइं मेहावी आइक्खेज्ज वियक्खणो ॥
सिणेहं पुप्फ सुहुमं च पाणुत्तिगं तहेव य ।
पणगं बीयं हरियं च अंडसुहुमं च अट्ठमं ॥

संस्कृत— कतराणि अष्टौ सूक्ष्माणि यानि पृच्छेत्संयतः ।
इमानि तानि मेधावी आचक्षीत विचक्षणः ॥
स्नेहं पुष्प-सूक्ष्मं च प्राणोत्तिंग तथैव च ।
पनकं बीज-हरितं च अण्डसूक्ष्मं चाष्टमम् ॥

(११)

दोहा— बैठे नहिं वन गहन विच बीज हरित पै जाय।
उदग उत्तिग हु पनक पै नहिं कदापि ठहराय ॥

अर्थ—मुनि गहन वनों में, वन निकुंजों में, बीजों पर, हरियाली पर, जल-व्याप्त भूमि पर, उत्तिग (सर्प के छत्राकार वाली वनस्पति) पर, पनक (अनन्तकायिक काई, लीलन-फूलन) पर खड़ा न हो, न बैठे और न सोवे ।

(१२)

दोहा— जंगम जीव हनै नहीं, वचन करम करि कोय।
सब जीवनि में दंड बिनु, लखै विविध जग सोय ॥

अर्थ—मुनि वचन और काय से त्रस प्राणियों की हिंसा न करे । सब जीवों के घात से दूर रहकर जगत के सर्व प्राणियों को अपने समान देखे ।

(१३)

दोहा— जिनहिं जानि 'संजति' बने, जीवदया अधिकारि ।
बैठे ठहरे सोवही, सूक्षम आठ निहारि ॥

अर्थ—संयमी मुनि आठ प्रकार के सूक्ष्म शरीर वाले जीवों को देखकर अर्थात् उनका बचाव कर बैठे, खड़ा हो और सोवे । इन आठ प्रकार के सूक्ष्म शरीर वाले जीवों को जानने पर ही कोई मनुष्य सब जीवों की दया का अधिकारी होता है ।

(१४—१५)

:— आठ सूक्ष्म वे कौन हैं, पूछत संजति जेह ।
कहत विचच्छन तिनहिं को, हे मतिधर वे येई ॥

कवित्त—

ओस हिम धुंध आदि, जल स्नेह सूक्षम हैं, बड़ उम्बरादि ते हैं सूक्ष्म सुमननि में ।
कुंथुआ प्रमुख छोटे जतु प्रानि सूक्षम हैं, कीड़ी नगरादि हैं उत्तिग सूक्ष्म गन में ।
लीलन फूलन सोई पनक सूक्षम जानो, तुष मुष आदि बीज सूक्ष्म गिनो मन में ।
भूमि-रंगधारी हरियारी, सो हरित सूक्ष्म, माखी कीट आदि अडे अंड-सूक्षमन में ॥

अर्थ—१ स्नेह पुष्प ओस, बर्फ, कुहरा, ओला और भूमि से निकलने वाली जलबिन्दु; २ पुष्प सूक्ष्म—बड़, ऊंवर, पीपल आदि के फूल और इन जैसे ही अन्य दुर्लक्ष्य जीव वाले फूल फल; ३ प्राण सूक्ष्म—अनुन्धरी, कुन्थु आदि प्राणी जो चलने पर ज्ञात हों, स्थिर रहने पर दुर्ज्ञेय हों; ४ उत्तिग सूक्ष्म—कीड़ी नगरादि, चीटियों

(१६)

मूल— **एवमेयाणि जाणित्ता सव्वभावेण संजए।**
अप्पमत्तो जए निच्चं सव्विंदिय समाहिए॥

संस्कृत— एवमेतानि ज्ञात्वा सर्वभावेन संयतः।
अप्रमत्तो यतेत् नित्यं सर्वेन्द्रियसमाहितः॥

(१७)

मूल— **धुवं च पडिलेहेज्जा जोगसा पायकंबलं।**
सेज्जमुच्चारभूमिं च संथारं अदुवासणं॥

संस्कृत— ध्रुवं च प्रतिलेखयेत् योगेन पात्र-कम्बलम्।
शय्यामुच्चारभूमिं च संस्तारमथवासनम्॥

(१८)

मूल— **उच्चारं पासवणं खेलं सिंघाण जल्लियं।**
फासुयं पडिलेहित्ता परिट्ठावेज्ज संजए॥

संस्कृत— उच्चारं प्रस्रवणं क्ष्वेलं शृंघाण - जल्लिकम्।
प्रासुकं प्रतिलेख्य परिष्ठापयेत् संयतः॥

(१९)

मूल— **पविसित्तु परागारं पाणट्ठा भोयणस्स वा।**
जयं चिट्ठे मियं भासे ण य रूवेसु मणं करे॥

संस्कृत— प्रविश्य परागारं पानार्थं भोजनाय वा।
यतं तिष्ठेन्मितं भाषेद न च रूपेषु मनः कुर्यात्॥

के बिल आदि; ५ पनक सूक्ष्म—अनेक वर्ण की काई, लीलन-फूलन आदि; ६ बीज सूक्ष्म-तुषमुख, सरसों आदि के अग्रभाग पर होने वाले सूक्ष्म जीव; ७ हरित सूक्ष्म—भूमि से तत्काल निकलने वाला दुर्ज्ञेय अंकुर और ८ अंड सूक्ष्म—मधु-मक्खी, कीड़ी, मकड़ी आदि के अंडे, ये आठ प्रकार के सूक्ष्मशरीर जीव हैं।

(१६)

दोहा— **या विधि इनको जानि के, संजति सर्बाहि प्रकार।**
सावधान इंद्रिय-जयी, करै जतन सब वार।

अर्थ—सब इन्द्रियों से सावधान साधु इस प्रकार इन सूक्ष्म जीवों को सब प्रकार से जानकर अप्रमत्त भाव से उनकी यतना करे।

(१७)

चौपाई— **वसन सयन भाजन अरु आसन, अरु उच्चार भूमि संथारन।**
योग-सहित प्रतिलेखन कीजे, नित निश्चित, बाधा नहिं दीजे।

अर्थ—मुनि प्रतिदिन निश्चित रूप से यथासमय पात्र, कम्बल, शय्या, उच्चारभूमि (मल-मूत्र उत्सर्ग का स्थान) संस्तारक (बिस्तर) और आसन का प्रतिलेखन करे।

(१८)

दोहा— **अचित अवनि प्रतिलेख मुनि, कफ मल मूत पसेव।**
नासा-मल आदिक तहां, परठि जतन-जुत देय॥

अर्थ—संयमी मुनि जीव-रहित प्रासुक भूमि का प्रतिलेखन कर वहां उच्चार (मल), प्रस्रवण (मूत्र), श्लेष्म (कफ), शृंघाण (नासिका-मल) एवं जल्ल (शरीर के अन्य मल) का उत्सर्ग करे।

(१९)

दोहा— **करि प्रवेस पर-भवन में, जल-भोजन कों लैन।**
जतनहिं ठहरै, मित कहै, रूप देखि चित दै न॥

अर्थ—मुनि जल या भोजन के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करके उचित स्थान में खड़ा रहे, परिमित बोले और वहां स्त्री आदि के रूप को देखकर उनमें मन को चंचल न करे।

(२०)

मूल— **बहु सुणेइ कण्णेहिं बहुं अच्छीहिं पेच्छइ।**
न य दिट्ठं सुयं सव्वं भिक्खू अक्खाउमरिहइ॥

संस्कृत— बहु शृणोति कर्णैः बह्वक्षीभिः प्रेक्षते।
न च दृष्टं श्रुतं सर्वं भिक्षुराख्यातुमर्हति॥

(२१)

मूल— **सुयं वा जइ वा दिट्ठं न लवेज्जोवघाइयं।**
न य केणइ उवाएणं गिहिजोगं समायरे॥

संस्कृत— श्रुतं वा यदि वा दृष्टं न लपेदौपघातिकम्।
न च केनचिदुपायेन गृहियोगं समाचरेत्॥

(२२)

मूल— **निट्ठाणं रसनिज्जूढं भद्दगं पावगं ति वा।**
पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा लाभालाभं न निद्दिसे॥

संस्कृत— निष्ठानं निर्यूढरसं भद्रकं पापकमिति वा।
पृष्ठो वाप्यपृष्ठो वा लाभालाभं न निर्दिशेत्॥

(२३)

मूल— **न य भोयणम्मि गिद्धो चरे उंछं अयंपिरो।**
अफासुयं न भुंजेज्जा कीयमुद्देसियाहडं॥

संस्कृत— न च भोजने गृद्धश्चरे दुगुञ्छमजल्पिता।
अप्रासुकं न भुञ्जीत क्रीतमौद्देशिकाहृतम्॥

(२४)

मूल— **सन्निहिं च न कुव्वेज्जा अणुमायं पि संजए।**
मुहाजीवी असंबद्धे हवेज्ज जगनिस्सिए॥

संस्कृत— सन्निधिं च न कुर्यादणुमात्रमपि संयतः।
मुधाजीवी असंबद्धो भवेज्जगनिश्रितः॥

(२०)

दोहा— कानिन सों बहुतक सुनै, बहुत निहारै नैन।
जोग न सब देख्यो सुन्यौ, मुनिको कहतो बैन ॥

अर्थ—साधु कानों से बहुत-सी भली-बुरी बातें सुनता है और आंखों से बहुत-सी भली-बुरी वस्तुएँ देखता है। किन्तु देखी और सुनी सब बातें किसी से कहना साधु के लिए योग्य नहीं है।

(२१)

चौपाई— उपघात की बात कछु होई, देखी सुनी कहै नहिं सोई।
करि उपाय कोऊ मन-माने, नहिं संबंध गृही सों ठाने ॥

अर्थ—सुनी अथवा देखी हुई बात यदि औपघातिक (किसी प्राणी को द्रव्य या भाव रूप से पीड़ा पहुंचाने वाली) हो तो साधु न कहे। और किसी भी उपाय (कारण) से गृहस्थ के योग्य कार्य का आचरण न करे।

(२२)

चौपाई— भोजन सब गुन-संजुत होई, अथवा रस-विहीन हूं कोई।
भलो बुरो पावै नहिं पावै, पूछै अनपूछै न बतावै ॥

अर्थ—यह आहार सरस है अथवा नीरस है, यह भोजन भला है या बुरा है, यह बात किसी के पूछने पर, या बिना पूछे ही न बतावे। तथा आज आहार का लाभ हुआ है, या नहीं हुआ है, इसे भी किसी से न कहे।

(२३)

चौपाई— नहिं भोजन में अतिरति लावै, मौनवंत विचरै सम भावै।
क्रीत उद्देसिक सनमुख लावै, अप्रासुक अस अन्न न खावै ॥

अर्थ—भोजन में अतिगृद्ध (लोलुपी) होकर विशिष्ट घरों में नहीं जावे, किन्तु चालता-रहित होकर उञ्छ (अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा) आहार (भोजन-पान) लवे। अप्रासुक (सचित्त), क्रीत (खरीदा हुआ) और आहृत (सामने लाया हुआ) आहारादि न ग्रहण करे और न खावे।

(२४)

चौपाई— संजति संनिधि रंच न राखै, न हि संबंध गृहिन संग राखै।
रहित प्रपंच जीवनो जाकौ,सो सब जग को, सब जग वाकौ ॥

अर्थ—संयमी साधु अणुमात्र भी भोज्य वस्तु का संचय न करे। किन्तु मुधाजीवी (निःस्वार्थ भाव से जीवित रहने वाला) और असंबद्ध (गृहस्थों के प्रपंच से मुक्त या अलिप्त) रहकर जग-निश्रित रहे। अर्थात् जनपद पर निर्भर रहे एवं त्रस और स्थावर की रक्षा करे।

(२५)

मूल— लूहवित्ती सुसंतुट्ठे अप्पिच्छे सुहरे सिया।
आसुरत्तं न गच्छेज्जा सोच्चाणं जिणसासणं॥

संस्कृत— रूक्षवृत्तिः सुसन्तुष्टोऽल्पेच्छः सुभरः स्यात्।
आसुरत्वं न गच्छेत् श्रुत्वा जिनशासनम्॥

(२६)

मूल— कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं पेमं नाभिनिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं काएण अहियासए॥

संस्कृत— कर्णसौख्येषु शब्देषु प्रेम नाभिनिवेशयेत्।
दारुणं कर्कशं स्पर्शं कायेनाध्यासीत॥

(२७)

मूल— खुहं पिवासं दुस्सेज्जं सीउण्हं अरई भयं।
अहियासे अव्वहिओ देहे दुक्खं महाफलं॥

संस्कृत— क्षुधां पिपासां दुःशय्यां, शीतोष्णमरतिं भयम्।
अध्यासीताव्यथितो देहे दुःखं महाफलम्॥

(२८)

मूल— अत्थंगयम्मि आइच्चे पुरत्थाय अणुग्गए।
आहारमाइयं सव्वं मणसा वि न पत्थए॥

संस्कृत— अस्तंगते आदित्ये पुरस्ताच्चानुद्गते।
आहारमादिकं सर्वं मनसापि न प्रार्थयेत्॥

(२९)

मूल— अतिंतिणे अचवले अप्पभासी मियासणे।
हवेज्ज उयरे दंते थोवं लद्धुं न खिंसए॥

संस्कृत— 'अतिंतिणः' अचपलोऽल्पभाषी मिताशनः।
भवेदुदरे दान्तः स्तोकं लब्ध्वा न खिंसयेत्॥

(२५)

चौपाई— अलप चाह थोरे तें भरई, रुक्ष खाय तोष हिय धरई।
कोप भाव कबहुं नहिं करई, सुनि जिन-शासन भवतें डरई॥

अर्थ—साधु रुक्ष वृत्ति (रूखे-सूखे भोजन पर निर्वाह करने वाला) होकर भी सदा सन्तुष्ट रहे। अल्प इच्छा वाला हो, सुभर (अल्प अन्न-पान से उदर भरने वाला) हो और जिन-शासन को सुनकर अर्थात् उसका ज्ञाता होकर किसी के आसुरक्त (क्रोध भाव को प्राप्त) न हो।

(२६)

चौपाई— सुनिके शब्द श्रवण-सुखदाई, आनै नहीं प्रेम ता मांही।
दारुन कर कस-फरस जु होई, करै सहन काय्या तें सोई॥

अर्थ—कानों के लिए सुखकर शब्दों को सुनकर उनमें प्रेम न करे और दारुण-कर्कश शब्दों को सुनकर उनमें द्वेष न करे, किन्तु काया से उन्हें सहन करे।

(२७)

चौपाई— भूख-पियास सेज दुखकारी, सीत-ताप अरती भय भारी।
सहै दीनता को बिनु लाये, मिले महाफल देह दुखाये॥

अर्थ—क्षुधा, पिपासा, दुःशय्या (विषम भूमि पर सोना), शीत, उष्ण, अरति और भय को अव्यथित चित्त से सहन करे। क्योंकि देह के दुःख सहन करना महान् फल का (कर्म-निर्जरा का) कारण है।

(२८)

दोहा— अस्तंगत आदित्य का, जब लौं उदय न होय।
आहारादिक सर्व की, मनसा करै (चहै) न कोय॥

अर्थ—सूर्य के अस्तंगत हो जाने से लेकर पुनः पूर्व दिशा में जब तक पुनः उदय न हो, तब तक रात्रि के समय आहारादि की मन से भी इच्छा न करे।

(२९)

चौपाई— नहिं अलाभ को कहै रिसाई, चपल न होय, अलप उचराई।
उदर-दमन होवै, मित खावै, अलप पाय नहिं बुरो बतावै॥

अर्थ—आहार न मिलने अथवा अरस मिलने पर तुन-तुनावे नहीं और न चपलता ही प्रकट करे। अल्प-भाषी, मित-भोजी और उदर का दमन करने वाला हो और थोड़ा आहार मिलने पर खिसियावे नहीं। (किन्तु सब दशाओं में शान्त रहे।)

(३०)

मूल— न बाहिरं परिभवे अत्ताणं न समुक्कसे।
सुयलाभे न मज्जेज्जा जच्चा तवसि बुद्धिए॥

संस्कृत— न बाह्यं परिभवेदात्मानं न समुत्कर्षयेत्।
श्रुत लाभे न माद्येत, जात्या तपस्वि-बुद्ध्या॥

(३१)

मूल— से जाणमजाणं वा कट्टु आहम्मियं पयं।
संवरे खिप्पमप्पाणं बीयं तं न समायरे॥

संस्कृत— अथ जानन्न जानन् वा कृत्वाऽधार्मिकं पदम्।
संवृणुयात् क्षिप्रमात्मानं द्वितीयं तं न समाचरेत्॥

(३२)

मूल— अणायारं परक्कम्म नेव गूहे न निण्हवे।
सुई सया वियडभावे असंसत्ते जिइंदिए॥

संस्कृत— अनाचारं पराक्रम्य नैव गूहेत न निन्हुवीत।
शुचिः सदा विकटभावो ऽसंसक्तो जितेन्द्रियः॥

(३३)

मूल— अमोहं वयणं कुज्जा आयरियस्स महप्पणो।
तं परिगिज्झ वायाए कम्मुणा उववायए॥

संस्कृत— अमोघं वचनं कुर्यादाचार्यस्य महात्मनः।
तत्परिगृह्य वाचा कर्मणोपपादयेत्॥

(३४)

मूल— अधुवं जीवियं नच्चा सिद्धिमग्गं वियाणिया।
विणियट्टेज्ज भोगेसु आउं परिमियमप्पणो॥

संस्कृत— अध्रुवं जीवितं ज्ञात्वा सिद्धिमार्गं विज्ञाय।
विनिवर्तेत भोगेभ्यः आयुः परिमिति मात्मनः

(३०)

छन्द—

नहिं और काहुको तिरस्कार सो ठानै, अपनेकों सबसों बड़ो नहीं सो मानै।
श्रुत की प्रापति तें जाति तथा तप माहीं, बुद्धि तें बड़ो हूं गरव करे कछु नाहीं॥

अर्थ—दूसरे का पराभव (अपमान) न करे, अपना अभिमान न करे, अधिक श्रुतलाभ (शास्त्र-ज्ञान) होने पर जाति, तपस्या और बुद्धि का मद न करे।

(३१)

छन्द—

अनजान तथा जान के कबहु जो कोई, सो धरम-हीन कारज कछु कीनो होई।
तौ तुरंत वातें आतम लेय हटाई, पुनि दूजो वैसो काज न करै कदाई॥

अर्थ—जान या अनजाने में कोई अधार्मिक कार्य हो जाय, तो अपनी आत्मा को उससे तुरन्त हटा लेवे और दूसरी वार भूलकर भी वह कार्य न करे।

(३२)

छन्द— अनाचार जो सेवन कीनो सो आलोचन गुरु के पास,
न कछु छुपावै,न सब छुपावै, सबै जथारथ करै प्रकाश।
सदा पवित्र भावना वारो जाके सकल प्रकट हैं भाव,
काहू में आसक्त नहीं जो इन्द्रिय-जेता सरल स्वभाव॥

अर्थ—अनाचार का सेवन कर साधु उसे न छिपावे और न अस्वीकार करे। किन्तु सदा पवित्र और स्पष्ट रूप से अलिप्त रहकर गुरु के सामने कहे और जितेन्द्रिय बने अर्थात् भविष्य में वैसा कार्य न करे।

(३३)

चौपाई— नित आचार्य और गुरुजी की, बानी सफल करै विधि नीकी।
'तहति' आदि कहि मुखतें गहई, तिहि अनुसार करम तें वहई॥

अर्थ—साधु को चाहिए कि आचार्य महात्मा के वचन को सफल करे। वे जो प्रायश्चित्त (दण्ड) देवें उसे अपने वचनों से ग्रहण कर कार्य रूप से उस पर आचरण करे।

(३४)

दोहा— जानि अथिर जग-जीवनो, मुकति-पंथ को जानि।
भोगनि तें विनिवृत्त हो, निज आयुस मितमानि॥

अर्थ—मुमुक्षु साधु जीवन को अनित्य और अपनी आयु को परिमित जानकर तथा सिद्धिमार्ग का ज्ञान प्राप्त कर भोगों से निवृत्त होवे।

(३५)

मूल— बलं थामं च पेहाए सद्धामारोग्गमप्पणो।
खेत्तं कालं च विन्नाय तहप्पहाणं निजुंजए॥

संस्कृत— बलं स्थाम च प्रेक्ष्य श्रद्धामारोग्यमात्मनः।
क्षेत्रं कालं च विज्ञाय तथात्मानं नियुंजीत॥

(३६)

मूल— जरा जाव न पीलेइ वाही जाव न वड्ढई।
जाविंदिया न हायंति ताव धम्मं समायरे॥

संस्कृत— जरा यावन्न पीडयति व्याधिर्यावन्न वर्धते।
यावदिन्द्रियाणि न हीयन्ते तावद्धर्मं समाचरेत्॥

(३७)

मूल— कोहं माणं च मायं च लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ इच्छंतो हियमप्पणो॥

संस्कृत— क्रोधं मानं च मायां च लोभं च पापवर्धनम्।
वमेच्चतुरो दोषांस्तु इच्छन् हितमात्मनः॥

(३८)

मूल— कोहो पीइं पणासेइ माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ लोहो सव्वविणासणो॥

संस्कृत— क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति मानो विनयनाशनः।
माया मित्राणि नाशयति लोभः सर्वविनाशनः॥

(३९)

मूल— उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जवभावेण लोभं संतोसओ जिणे॥

संस्कृत— उपशमेन हन्यात् क्रोधं मानं मार्दवेन जयेत्।
मायां च ऋजुभावेन लोभं सन्तोषतो जयेत्।

(३५)

दोहा— **बल थिरता कों देखिके, श्रद्धा, निज आरोग्य।**
क्षेत्र काल लखि आत्म को, करै नियत ता-योग्य॥

अर्थ—अपने बल, पराक्रम, श्रद्धा और आरोग्य को देखकर तथा क्षेत्र और काल को जानकर साधु अपने आपको मुक्ति के मार्ग में लगावे।

(३६)

मोतियादाम छन्द—

जबै लगि आनि जरा न दबाय, जबै लगि व्याधि नहीं बढ़ जाय।
जबै लगि इंद्रिय हारि न खाय, तबै लगि धर्म अराधहु धाय॥

अर्थ—जब तक जरा (बुढ़ापा) पीड़ित न करे, जब तक व्याधि (रोग) न बढ़े और जब तक इन्द्रियां क्षीण न हों, तब तक धर्म का आचरण करे।

(३७)

छन्द— **क्रोध मान माया तजि देवै, लोभ हु पाप-बढ़ावन-हार।**
चारिउं दोस दूर करि देवै, आतम-हित-चिंता चित-धार॥

अर्थ—क्रोध मान माया और लोभ ये चारों कषाय पाप को बढ़ाने वाले हैं। अतः अपना हित चाहने वाला पुरुष इन चारों दोषों को छोड़े।

(३८)

दोहा— **क्रोध विनासै प्रीति को, विनय विनासै मान।**
माया मेटै मित्रता, लोभ करै सब हान॥

अर्थ क्रोध प्रीति का नाश करता है मान विनय का नाश करने वाला है, माया मित्रों का विनाश करती है और लोभ इन सबका (प्रीति, विनय और मित्रता का) नाश करने वाला है।

(३९)

छन्द— **हनै कोप को शान्ति-शस्त्र से, कोमलता से जीते मान।**
सरलपने से माया मारे, जीते लोभ तोष उर आन॥

अर्थ—उपशमभाव से क्रोध का विनाश करे, मार्दवभाव से मान को जीते, आर्जवभाव से माया को जीते और सन्तोष से लोभ को जीते।

(४०)

मूल— कोहो य माणो य अणिग्गहीया
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥

संस्कृत— क्रोधश्च मानश्चानिगृहीतौ
माया च लोभश्च प्रवर्धमानौ ।
चत्वार एते कृत्स्नाः कषायाः
सिञ्चन्ति मूलानि पुनर्भवस्य ॥

(४१)

मूल— राइणिएसु विणयं पउंजे,
धुवसीलयं सययं न हावएज्जा ।
कुम्मोव्व अल्लीण-पलीण-गुत्तो,
परक्कमेज्जा तव - संजमम्मि ॥

संस्कृत— रात्निकेषु विनयं प्रयुञ्जीत
ध्रुवशीलतां सततं न हापयेत् ।
कूर्म इवालीन-प्रलीन-गुप्तः
पराक्रमेत् तपः संयमे ॥

(४२)

मूल— निद्दं च न बहुमन्नेज्जा संपहासं विवज्जए ।
मिहो कहाहिं न रमे सज्झायम्मि रओ सया ॥

संस्कृत— निद्रां च न बहु मन्येत संप्रहासं विवर्जयेत् ।
मिथः कथासु न रमेत स्वाध्याये रतः सदा ॥

(४३)

मूल— जोगं च समणधम्मम्मि जुंजे अणलसो धुवं ।
जुत्तो य समणधम्मम्मि अट्ठं लहइ अणुत्तरं ॥

संस्कृत— योगं च श्रमणधर्मे युञ्जीतानलसो ध्रुवम् ।
युक्तश्च श्रमणधर्मे, अर्थं लभतेऽनुत्तरम् ॥

(४०)

भुजंग प्रयात छन्द— **नहीं क्रोध औ मानको जो निवारै,**
तथा लोभ माया जु पावै प्रसारै।
पुनर्जन्म के वृक्ष कों सर्वदाई,
रहै सींचते ये चार ही कसाई॥

अर्थ—निग्रह नहीं किये हुए क्रोध और मान, तथा बढ़ते हुये माया और लोभ ये चारों कषाय पुनर्जन्मरूपी संसार-वृक्ष की जड़ों का सिंचन करते हैं।

(४१)

मालिनीछन्द—

अधिक रतन-धारी आर्य आचार्य वारी, तिन विनय प्रचारी होय आज्ञानुसारी।
सतत अटलधारी शीलता कों संभारी, बनिय न पथचारी तासुमें ह्रासकारी॥
कमठगति सँभारी देहकी गुप्ति वारी, करिय तिहि प्रकारी पापतें रक्षवारी।
तप संजम सुधारी यत्न कीजे अपारी, यह कृति सुखकारी मोक्ष की देन-हारी॥

अर्थ—रत्नाधिक अर्थात् दीक्षा में अपने से बड़े, चारित्र वृद्ध और ज्ञानवृद्ध गुरुजनों में सदा विनय का प्रयोग करे। अपने अठारह हजार शील के भेदों की कभी हानि न होने देवे। कूर्म (कछुआ) के समान आलीन-गुप्त (अपने अंगोपांगों को सुरक्षित रखने वाला) और प्रलीन-गुप्त (कारण उपस्थित होने पर सावधानी से प्रवृत्ति करने वाला) बने तथा तप और संयम में पराक्रम करे।

(४२)

:पाई— **निद्रा को बहुमान न दीजे, अधिक हास को त्याग करीजे।**
वृथा कथा में राचे नाहीं, रहिये रत स्वाध्यायनि मांहीं॥

अर्थ—निद्रा को बहु मान न देवे, अधिक हास-परिहास का त्याग करे, स्त्री कथा आदि विकथाओं न रमे और स्वाध्याय में सदा संलग्न रहे।

(४३)

चौपाई— **आलस-रहित सु उद्यत भावे, श्रमण-धरम में जोग लगावे।**
श्रमण-धरम-संजुगत जु अहई, परमारथ उत्तम सो लहई॥

अर्थ—मुनि आलस्य-रहित होकर श्रमण-धर्म में अपने मन, वचन, काय योग को लगावे। (जिस क्रिया का जो समय हो उसमें वह उसे अवश्य करे।) श्रमण धर्म में संलग्न मुनि अनुत्तर फल को अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त होता है।

(४४)

मूल— इह लोग-पारत्तहियं जेणं गच्छइ सोग्गइं ।
बहुस्सुयं पज्जुवासेज्जा पुच्छेज्जत्थविणिच्छयं ॥

संस्कृत— इहलोक-परत्र - हितं येन गच्छति सुगतिम् ।
बहुश्रुतं पर्युपासीत पृच्छेदर्थविनिश्चयम् ॥

(४५)

मूल— हत्थं पायं च कायं च पणिहाय जिइंदिए ।
अल्लीणगुत्तो निसिए सगासे गुरुणो मुणी ॥

संस्कृत— हस्तं पादं च कायं च प्रणिधाय जितेन्द्रियः ।
आलीनगुप्तो निषीदेत सकाशे गुरोर्मुनिः ॥

(४६)

मूल— न पक्खओ न पुरओ नेव किच्चाण पिट्ठओ ।
न य उरुं समासेज्जा चिट्ठेज्जा गुरुणंतिए ॥

संस्कृत— न पक्षतो न पुरतो नैव कृत्यानां पृष्ठतः ।
न च उरुं समाश्रित्य तिष्ठेद् गुर्वन्तिके ॥

(४७)

मूल— अपुच्छिओ न भासेज्जा भासमाणस्स अंतरा ।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा माया - मोसं विवज्जए ॥

संस्कृत— अपृष्टो न भाषेत भाषमाणस्यान्तरा ।
पृष्ठमांसं न खादेत् माया-मृषा विवर्जयेत् ॥

(४८)

मूल— अप्पत्तियं जेण सिया आसु कुप्पेज्ज वा परो ।
सव्वसो तं न भासेज्जा भासं अहियगामिणिं ॥

संस्कृत— अप्रीतिर्येन स्याद् आशु कुप्येद्वा परः ।
सर्वशस्तां न भाषेत भाषा महितगामिनीम् ॥

(४४)

तोटकछन्द—इह लोक तथा परलोक-हितं, जिहितें जिय जावत है सुगतं।
तिहि हेतु उपासिय भूरि-श्रुतं, तब पूछिय तत्त्व विनिश्चित तं ॥

अर्थ—जिसके द्वारा इहलोक और परलोक में हित होता है, मृत्यु के पश्चात सुगति प्राप्त होती है, उसकी प्राप्ति के लिए वह बहुश्रुत-सम्पन्न साधु की पर्युपासना करे, अर्थ का निश्चय करने के लिए प्रश्न करे।

(४५)

तोमरछन्द—इन्द्रिय-जयी मुनिराय, उपयोग कों वरताय।
कर चरन तनु सिमिटाय, गुरु निकट बैठे जाय ॥

अर्थ—जितेन्द्रिय मुनि हाथ, पैर और शरीर को संयमित कर अलीन (न अतिदूर और न अतिनिकट) एवं गुप्त (मन और वाणी से संयत) होकर गुरु के समीप बैठे।

(४६)

तोमरछन्द— गुरु के न आगे आय, बैठे न पाछे जाय।
पासें न जंघ अड़ाय, बैठे सु उचित सुभाय ॥

अर्थ—गुरुजनों के बराबर न बैठे, आगे और पीछे भी न बैठे। गुरु के समीप उनके उरु से अपना उरु मिलाकर (जांघ से जांघ सटा कर) अथवा अपने पैर पर पैर रखकर न बैठे। किन्तु विनयपूर्वक उचित आसन से बैठे।

(४७)

र्ा— विनु पूछे नहिं बोले, बोल रहे हैं तिननि बीच नहिं बोले।
पीठ बुरो नहिं बोले, कपट-समेत मृषा हु न बोले ॥

अर्थ—साधु को चाहिए कि गुरु के पूछे बिना स्वयं न बोले, जब गुरु किसी अन्य से बातचीत कर रहे हों तब बीच में न बोले, पृष्ठ-मांस न खावे—अर्थात् किसी की पीठ पीछे निन्दा न करे तथा मायाचार और मृषावाद को छोड़े।

(४८)

रथोद्धता — जिहितें अहेत बढ़ि जावत है, सुनि कोप-भाव पर जागत है।
सब भांति ताहि कबहुं न भनै, वह वानि जो कि हित हानि जनै ॥

अर्थ—जिससे अप्रीति और अप्रतीति उत्पन्न हो, तथा दूसरा शीघ्र कुपित हो जाय ऐसी अहितकर भाषा सर्वथा न बोले।

(४६)

मूल— दिट्ठं मियं असंदिद्धं पडिपुन्नं वियं जियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं भासं निसिर अत्तवं ॥

संस्कृत— दृष्टां मितामसंदिग्धां प्रतिपूर्णां व्यक्तां जिताम् ।
अजल्पाकीमनुद्विग्नां भाषां निसृजेदात्मवान् ॥

(५०)

मूल— आयारपन्नत्तिधरं दिट्ठिवायमहिज्जगं ।
वायविक्खलियं नच्चा न तं उवहसे मुणी ॥

संस्कृत— आचारप्रज्ञप्तिधरं दृष्टिवादाभिज्ञम् ।
वाग्विस्खलितं ज्ञात्वा न तमुपहसेन्मुनिः ॥

(५१)

मूल— नक्खत्तं सुमिणं जोगं निमित्तं मंत भेसजं ।
गिहिणो तं न आइक्खे भूयाहिगरणं पयं ॥

संस्कृत— नक्षत्रं स्वप्नं योगं निमित्तं मंत्र-भेषजम् ।
गृहिणस्तन्नाचक्षीत भूताधिकरणं पदम् ॥

(५२)

मूल— अन्नट्ठं पगडं लयणं भएज्ज सयणासणं ।
उच्चारभूमिसंपन्नं इत्थीपसु विवज्जियं ॥

संस्कृत— अन्यार्थं प्रकृतं लयनं भजेत शयनासनम् ।
उच्चारभूमिसम्पन्नं स्त्रीपशुविवर्जितम् ॥

(४९)

वसन्ततिलका—

शंका-विहीन, मित दर्शित होय जोई, जानी भई प्रगट औ परिपूर्ण होई।
उद्वेग-वर्जित अजल्पन शीलवानी, ऐसी उचारण करं मुनि आत्मज्ञानी॥

अर्थ—आत्मज्ञानी साधु प्रत्यक्ष देखी हुई, परिमित असन्दिग्ध और पूर्वापर सम्बन्ध-सहित परिपूर्ण और व्यक्त (स्पष्ट) अर्थवाली, परिचित, वाचालता-रहित तथा अन्य को उद्वेग नहीं करने वाली भाषा को बोले।

(५०)

उपेन्द्रवज्रा— **आचार-प्रज्ञप्ति हु के धरैया, जे दृष्टिगावार्थहु के पढ़ैया।**
चूकै तिन्हैं बोलन बीच पावै, मुनी उन्हों की न हंसी उड़ावै॥

अर्थ—आचारांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति आदि के ज्ञाता, अथवा आचार-धर (वाक्य-प्रयोग का ज्ञाता) तथा दृष्टिवाद अंग का अथवा नयवाद का अध्ययन करने वाला भी मुनि यदि कदाचित् बोलते समय प्रमाद-वश वचन बोलने में चूक जाय तो मुनि उसकी चूक जानकर उसका उपहास न करे।

(५१)

कवित्त

नक्षत्र-विचार विद्या शुभाशुभ स्वप्न ज्ञान, वशीकरणादि योग कबहुं न गहिये।
भविष्य कथन सोई निमित्त कहावै तातें, मंत्रनि तें भेषज तें दूर रह्यो चहिये।
इनके किये तें भूत प्रानी को असाता होय, ऐसो ई विचार निज मानस में लहिये।
पूछे अनपूछे आप इनसों विलग रहै, ऊपर कहे ते काहू गृही सो न कहिये॥

अर्थ—नक्षत्र-योग, स्वप्न-फल, वशीकरणयोग, निमित्त-प्रतिपादन, मंत्र-प्रदान एवं भेषज-निरूपण ये सब जीवों की हिंसा के स्थान हैं। इसलिए मुनि गृहस्थों को इनके फलाफल आदि न बतावे।

(५२)

अरिल्ल—

कियो और के काज लयन सो सेइये, आसन तथा सयन हू वैसे लेइये।
जो उच्चार भूमि सों संजुत होय हो, नारी-पशुसों हीन गहे घर सोय हो॥

अर्थ– जो अन्य के लिए बनाये गये हों, अर्थात् गृहस्थ ने अपने लिए बनाये हों, साधु के लिये न बनाये हों, ऐसे तथा जो उच्चारभूमि से सम्पन्न हो। जिसमें मल-मूत्रादि के छोड़ने के लिए समुचित स्थान हो, जहां पर स्त्री, पशु और नपुंसक आदि न रहते हों ऐसे लयन (पर्वतों में उत्खनित लेन एवं अन्य भवन आदि) में साधु निवास करे और वहीं सोवे और उठे-बैठे।

(५३)

मूल— विवत्ता य भवे सेज्जा नारीणं न लवे कहं।
गिहिसंथवं न कुज्जा कुज्जा साहूहिं संथवं ॥

संस्कृत— विविक्ता च भवेच्छय्या नारीणां न लपेत्कथाम्।
गृहिसंस्तवं न कुर्यात् कुर्यात् साधुभिः संस्तवम् ॥

(५४)

मूल— जहा कुक्कुडपोयस्स निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स इत्थीविग्गहओ भयं ॥

संस्कृत— यथा कुक्कुटपोतस्य नित्यं कुललतो भयम्।
एवं खलु ब्रह्मचारिणः स्त्रीविग्रहतो भयम् ॥

(५५)

मूल— चित्तभित्तिं न निज्झाए नारिं वा सुअलंकियं।
भक्खरं पिव दट्ठूणं दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥

संस्कृत— चित्रभित्तिं न निध्यायेन्नारीं वा स्वलंकृताम्।
भास्करमिव दृष्ट्वा दृष्टिं प्रतिसमाहरेत् ॥

(५६)

मूल— हत्थ-पाय-पडिच्छिन्नं कण्ण-नास-विगप्पियं।
अवि वाससइं नारिं बंभयारी विवज्जए ॥

संस्कृत— हस्त-पादां प्रतिच्छिन्नां, कर्ण-नासाम् विकल्पितं।
अपि वर्षशतीं नारीं ब्रह्मचारी विवर्जयेत् ॥

(५३)

अरिल्ल—

जो वह थानक जननि सों हीन हों, केवल एकाकी मुनि आसीन हो।
नारिन के संग कथा आदि नहिं उचरै, करै साधुसों परिचय गृहिसों नहिं करै ॥

अर्थ—यदि वह रहने का स्थान विविक्त (जन-शून्य एकान्त) हो, अर्थात् वहां पर साधु अकेला हो, तो स्त्रियों के साथ कथा-वार्तादि न करे एवं वहां पर उन्हें धर्मकथादि भी न सुनावे। तथा गृहस्थों के साथ अतिपरिचय भी न करे। किन्तु साधुओं के साथ ही परिचय प्राप्त करे।

(५४)

दोहा— **अरुन-सिखा-सिसु कों जथा, नित विलाव सों भीति।**
ब्रह्मचारि कों तियनि भय, तिय-तनुतें तिहि रीति ॥

अर्थ—जिस प्रकार मुर्गे के बच्चे को बिल्ली से सदा भय रहता है, इसी प्रकार ब्रह्मचारी साधु को स्त्री के शरीर से सदा भय-भीत रहना चाहिए।

(५५)

कवित्त—

भीति पै चितारे भये चित्र-चारु रमनी के, नीके दीठि करिके न तिनकों निहारिये।
भूसन वसन सिनगार सों सजी है तीय, तापै निज दीठि कों कदापि न पसारिये।
जो पै अनयास विनु जनिई संजोग-वस, दीठि परिजाय ताकों तुरत निवारिये,।
जैसे तेजवान भान-प्रतिभा परत आन, दृगनि की दीठि त्यों तुरन्त दूर टारिये।

अर्थ—स्त्रियों के चित्रों से चित्रित भित्ति को, या आभूषणों से अलंकृत स्त्री को अनुराग से टक-टकी लगाकर न देखे। यदि उन पर दृष्टि पड़ जाय तो ब्रह्मचारी साधु अपनी दृष्टि को तुरन्त पीछे उसी प्रकार खींच लेवे— जैसे कि चमकते सूर्य पर पड़ी अपनी दृष्टि को लोग तत्काल खींच लेते हैं।

(५६)

कवित्त—

जाके हाथ पांव के छेदन भये हैं अंग, नाक औ करन नास करने में आये हैं।
वरस सतेक हू कों आय पहुंची है आयु, घृनित सरीर पीर देखि दुख पाये हैं।
ऐसी हू गिलानि-गेह ताहूकों निवारि दूर, ब्रह्मव्रतधारी जति निकट न जाये हैं।
ता पै जो सुरूपधारी सुनैनी नवीना नारी, तासों बचिवे को विन ही बताये हैं।

अर्थ—जिसके हाथ-पैर कटे हुए हों, जो कान-नाक से विकल हो ऐसी सौ वर्ष की आयु वाली भी बूढ़ी नारी से ब्रह्मचारी दूर रहे।

(५७)

मूल— विभूसा इत्थिसंसग्गो पणीय रसभोयणं ।
नरस्सत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा ॥

संस्कृत— विभूषा स्त्री-संसर्गः प्रणीत-रस-भोजनम् ।
नरस्यात्मगवेषिणो विषं तालपुटं यथा ॥

(५८—५९)

मूल— अंग-पच्चंग-संठाणं चारुल्लवियपेहियं ।
इत्थीणं तं न निज्झाए काम- राग - विवड्ढणं ॥
विसएसु मणुन्नेसु पेमं नाभिनिवेसए ।
अणिच्चं तेसिं विन्नाय परिणामं पोग्गलाण उ ॥

संस्कृत— अङ्ग-प्रत्यंग-संस्थानं चारुल्लपितप्रेक्षितम् ।
स्त्रीणां तन्न निध्यायेत् काम-राग-विवर्धनम् ॥
विषयेषु मनोज्ञेषु प्रेम नाभिनिवेशयेत् ।
अनित्यं तेषां विज्ञाय परिणामं पुद्गलानां तु ॥

(६०)

मूल— पोग्गलाण परीणामं तेसिं नच्चा जहा तहा ।
विणीयतण्हो विहरे सीईभूएण अप्पणा ॥

संस्कृत— पुद्गलानां परिणामं तेषां ज्ञात्वा यथा तथा ।
विनीततृष्णो विहरेत् शीतीभूतेनात्मना ॥

(५७)

कवित्त—

सोभित सिंगार ते सरीर को सवारिबो रु, नारि हू के संग हेल-मेल होय जानो है।
देह-पोष-कारक सरस सेवो भोजन को, काम-भाव-कारक सु बल को बढ़ानो है।
तालपुट नामक जो विसनि में महाविस, ताही के समान इन बातनि बखानो है।
ताके हेतु, जाको हेत आतम-गवेसना सों, पुरुष प्रवीन जोई संजम सयानो है।।

अर्थ—आत्म-कल्याण का अन्वेषण करने वाले पुरुष के लिए शरीर को विभूषित करना, स्त्री के साथ संसर्ग रखना और पौष्टिक रसवाला भोजन करना तालपुट विष के समान है। (जैसे तालपुट नाम का विष तालु के लगते ही प्राणों को हर लेता है, उसी प्रकार शरीर-विभूषादि उक्त अवगुण भी साधु के चारित्र का नाश कर देते हैं।)

(५८—५९)

कवित्त

अंग प्रति अंग के सुडोलनि को ढंग बन्यो, बोलन सुरस, मन-हरन निहारनो।
एते रमनी के मन आने न निहारे नीके, काम-राग-बाढ़न को राह-यह टारनो।
सुंदर विसय तामें प्रेम न प्रवेस कीजें, आनत सरूप वाको जान के विचारनो।
पूरन-गलन परिनाम पुद्गलनि को है, डार सो आसार, सार संजम सुधारनो।।

अर्थ—स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग, सुन्दर आकार, मधुर बोली और कटाक्ष को न देखे, क्योंकि ये सब काम-राग को बढ़ाने वाले हैं, पांचों इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों में अर्थात् शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श में प्रेम न रखो—यह जानकर कि ये पूरण-गलन-स्वभावी पुद्गलों के क्षण-भंगुर परिणाम हैं।

(६०)

कवित्त—

आज कछु और रंग, काल कछु और ढंग, ऐसो ई अथिर परिनाम पुद्गलनि को।
जैसो है तैसो ही ताकों जान लीजे नीके कर, नारिसों निहार थान मूत ही मलनि को।
तिसना को नमाय के, संतोष वृत्ति लाय हिये. विहरै विराग लिये तापतें टलनि कों।
शान्ति के सरोवर में आतम-सिनान भलो, शीतल भयो है सिद्ध-रासि में रलनि कों।।

अर्थ—इन्द्रियों के विषयभूत शब्दादि पुद्गलों के परिणमन को, जैसा है वैसा जानकर अपनी आत्मा को शीतल बनाकर तृष्णा-रहित हो विहार करे।

(६१)

मूल— जाए सद्धाए निक्खंतो परियायट्ठाणमुत्तमं ।
तमेव अणुपालेज्जा गुणे आयरियसम्मए ॥

संस्कृत— यया श्रद्धया निष्क्रान्तः पर्यायस्थानमुत्तमम् ।
तामेवानुपालयेद् गुणे आचार्यसम्मते ॥

(६२)

मूल— तवंचिमं संजमजोगयं च,
सज्झाय जोगं च सया अहिट्ठए ।
सूरे व सेणाए समत्तमाउहे
अलमप्पणो होइ अल परेसिं ॥

संस्कृत— तपश्चेदं संयमयोगं च
स्वाध्याययोगं च सदाऽधिष्ठेत् ।
शूर इव सेनया समाप्तायुधे-
ऽलमात्मने भवत्यलंपरेभ्यः ॥

(६३)

मूल— सज्झाय सज्झाणरयस्स ताइणो
अपावभावस्स तवे रयस्स ।
विसुज्झई जं सि मलं पुरेकडं
समीरियं रुप्पमलं व जोइणा ॥

सस्कृत— स्वाध्याय-सद्ध्यानरतस्य
त्रायिणोऽपापभावस्य तपसि रतस्य ।
विशुध्यते यत्तस्य मलं पुराकृतं
समीरितं रूप्यमलमिव ज्योतिषा ॥

(६१)

सवैया—

जा सरधा करिके अगतें निकस्यो तजि और कुटुम्ब के नाते,
संजति को पद पायो भलो जिहि हेतु रहैं अमरेस उम्हाते।
पूज्य अचारज-सम्मति-संजुत जे गुन हैं तिनमें रहि राते,
वा सरधा को करैं परिपालन ते धरनी पर धन्य कहाते ॥

अर्थ—जिस श्रद्धा से उत्तम प्रव्रज्यारूप स्थान की प्राप्ति के लिए साधु घर से निकला है, उसे उसी श्रद्धा से आचार्य-सम्मत गुण का पालन करना चाहिए।

(६२)

चौपाई— तप संजम को जोग अराधै, नित स्वाध्याय जोग सो साधै।
आयुध पूर सूर जिम सोई, निज-रक्षक पर-हंता होई ॥

अर्थ—जो तप संयम-योग और स्वाध्याय-योग में सदा प्रवृत्त रहता है, वह अपनी और दूसरों की रक्षा करने में उसी प्रकार समर्थ होता है, जिस प्रकार कि सेना से घिरा हुआ परन्तु आयुधों से सुसज्जित शूरवीर।

(६३)

चौपाई— सत अध्ययन ध्यान शुभ मांही, जो त्राता नित लीन रहाही।
पापभाव सों है जो न्यारो, जाकों तप अति लागत प्यारो ॥
पूरब किये करम मल जेते, ताके सब धुपि जावत ते ते।
जैसे रूपा फूंकि तपाये, होत विशुद्ध अगनि में लाये।

अर्थ—स्वाध्याय और सद्-ध्यान में लीन, त्राता (जीव-रक्षक), निष्पाप मन वाले और तप में रत मुनि का पूर्व संचित कर्म-मल उसीप्रकार भस्म हो जाता है, जिस प्रकार कि अग्नि द्वारा तपाये गये सोने का मल भस्म हो जाता है।

(६४)

मूल— से तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए
सुएण जुत्ते अममे अकिंचणे ।
विरायई कम्मघणम्मि अवगए
कसिणब्भपुडावगमेव चंदिमा ॥

—त्ति बेमि

संस्कृत— स तादृशो दुःखसहो जितेन्द्रियः,
श्रुतेन युक्तोऽममोऽकिंचनः ।
विराजते कर्मघनेऽपगते
कृत्स्नाभ्रपुटापगमे इव चन्द्रमाः ॥

—इति ब्रवीमि

अट्ठमं आयार-पणिही अज्झयणं सम्मत्तं ।

(६४)

कवित्त—

तैसो वह श्रमन सहै या देह दुःखनि को, इंद्रिन के जीतन में परम प्रवीनो है,
आगम वचन जाके हिय में वचन लागे, ममता-विहीन परिग्रहतें विहीनो है।
कारे कारे बादल करम करि डारे दूर, शोभातें विराजमान ऐसो भाव लीनो है,
बादल पटल मानो सकल विलग भए, रोहिनी-रमन ने प्रकाश प्रिय कीनो है।

अर्थ—जो पूर्वोक्ति गुणों से युक्त है, दुःखों को सहन करने वाला है, जितेन्द्रिय है, श्रुतवान् है, ममता-रहित और अकिंचन है, वह कर्म रूपी बादलों के दूर होने पर उसी प्रकार शोभित होता है, जिस प्रकार कि समस्त मेघ-पटल से विमुक्त पूर्णमासी का चन्द्र शोभता है।

— ऐसा मैं कहता हूँ।

अष्टम आचार-प्रणिधि अध्ययन समाप्त।

नवम विणयसमाही अज्झयणं

(पढम उद्देसो)

(१)

मूल—

थंभा व कोहा व मयप्पमाया
गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे ।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो
फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥

संस्कृत—

स्तम्भाद्वा क्रोधाद्वा मायाप्रमादाद्
गुरु-सकाशे विनयं न शिक्षेत ।
स चैव तु तस्याभूतिभावः
फलमिव कीचकस्य वधाय भवति ॥

(२)

मूल—

जे यावि मंदि त्ति गुरुं विइत्ता
डहरे इमे अप्पसुए त्ति नच्चा ।
हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा
करेंति आसायण ते गुरूणं ॥

संस्कृत—

ये चापि 'मन्द' इति गुरुं विदित्वा
'डहरोऽयं' 'अल्पश्रुत' इति ज्ञात्वा ।
हीलयन्ति मिथ्या प्रतिपद्यमानाः
कुर्वन्त्याशातनां ते गुरूणाम् ॥

नवम विनय-समाधि अध्ययन

(प्रथम उद्देशक)

(१)

कवित्त—

जाति विद्या बुद्धि आदि मद के अधीन भयो, त्यों ही कोप कपटकं पायके बिकास कों,
सेवा-भाव साधवे की विनय अराधवे की, सीखकों न सीखै पाय गुरु के सकास कों।
ताकी ज्ञान आदि सवगुननि की सम्पदा कों करत बिनास अविनीत-पनो तास को;
आपकौ हरज होत आपने किये ही देखो वांस को विनास करे जैसे फल बांस को ॥

अर्थ—जो मुनि गर्व, क्रोध, माया या प्रमाद-वश गुरु के समीप विनय की शिक्षा नहीं लेता, वही उसके विनाश के लिए होती है। जैसे—कीचक (बांस) का फल उस के ही विनाश के लिए होता है।

(२)

चौपाई— **मन्द जानि गुरु कों जन जेई, बाल अलप श्रुत यों लखि लेई।**
एहि मिथ्यापन हीलत ताही, ते गुरु आसातना कराही ॥

अर्थ - जो मुनि गुरु को—यह मन्द (बुद्धि-हीन) है, यह अल्पवयस्क और अल्पश्रुत है—ऐसा जानकर उसके उपदेश को मिथ्या मानते हुए उसकी अवहेलना करते हैं, वे गुरु की आसातना (विराधना) करते हैं।

(३)

मूल — पगईए मंदा वि भवंति एगे
डहरा वि य जे सुयबुद्धोववेया ।
आयारमंता गुणसुट्ठिअप्पा
जे हीलिया सिहिरिव भास कुज्जा ।।

संस्कृत— प्रकृत्या मन्दा अपि भवन्त्येके
डहरा अपि च ये श्रुतबुद्ध्युपेताः ।
आचारवन्तो गुणसुस्थितात्मानो
ये हीलिताः शिखीव भस्म कुर्युः ।।

(४)

मूल— जे यावि नागं डहरं ति नच्चा
आसायए से अहियाय होइ ।
एवायरियं पि हु हीलयंतो
नियच्छई जाइपहं खु मंदे ।।

संस्कृत— यं चापि नागं डहर इति ज्ञात्वा
आशातयेयुस्तस्याहिताय भवति ।
एवमाचार्यमपि खलु हीलयन्
निर्गच्छति जातिपथं खलु मन्दः ।।

(५)

मूल— आसीविसो यावि परं सुरुट्ठो
किं जीवनासाओ परं नु कुज्जा ।
आयरियपाया पुण अप्पसन्ना
अबोहि आसायण नत्थि मोक्खो ।।

संस्कृत— आशीविषश्चापि परं सुरुष्टः
किं जीवनाशात्परं न कुर्यात् ।
आचार्यपादाः पुनरप्रसन्नाः
अबोधिमाशातनया नास्ति मोक्षः ।।

(३)

चौपाई— प्रकृति-मंद होवत हैं कोई, अल्पवय हु श्रुत-मति-धर होई॥
जे आचारवन्त गुनवाना, हीलत जारत अगनि-समाना॥

अर्थ—कोई आचार्य वयोवृद्ध होते हुए भी स्वभाव से ही मन्दबुद्धि होते हैं और कई अल्पवयस्क होते हुए भी श्रुत और बुद्धि से सम्पन्न होते हैं। आचारवान् और गुणों में सुस्थितात्मा आचार्य—भले ही फिर वे मन्दबुद्धि हों या प्राज्ञ, किन्तु अवज्ञा प्राप्त होने पर गुणराशि उसी प्रकार भस्म कर डालते हैं, जैसे कि अग्नि ईंधन को।

(४)

चौपाई— छेड़त सिसु लखि सरपहि कोई, तासु अहित-कारक सो होई।
या विधि गनिनि न गन्य जु गनई, जनम-पंथ-पंथिक सो बनई॥

अर्थ—'यह सर्प छोटा है' ऐसा जानकर जो कोई उसकी आशातना करता है, अर्थात् उसे लकड़ी आदि से सताता है, वह उसके अहित के लिए होता है। इसी प्रकार अल्पवयस्क आचार्य की भी अवहेलना करने वाला मन्दबुद्धि संसार में परिभ्रमण करता है।

(५)

चौपाई – आसीविस अहि अति रिसि पाई, प्राण-हानि-बढ़ि कहा कराई।
गनि रूठे अबोधि उपजाहीं, आसातन तें मुकती नाहीं॥

अर्थ—आशीविष सर्प अत्यन्त क्रुद्ध होने पर भी 'जीवन-नाश' से अधिक क्या अहित कर सकता है? अर्थात् और कुछ नहीं कर सकता। किन्तु आचार्यपाद अप्रसन्न होने पर अबोधि (मिथ्यात्व एवं अज्ञान) करते हैं। (जिससे संसार बढ़ता है।) अतः गुरु की आशातना से मोक्ष नहीं मिलता है।

(६)

मूल— जो पावगं जलियमवक्कमेज्जा
आसीविसं वा वि हु कोवएज्जा ।
जो वा विसं खायइ जीवियट्ठी
एसोवमासायणया गुरूणं ॥

संस्कृत— यः पावकं ज्वलितमपक्रामे-
दाशी विषं वापि खलु कोपयेत् ।
यो वा विषं खादति जीवितार्थी
एषोपमाऽशातनया गुरूणाम् ॥

(७)

मल— सिया हु से पावय नो डहेज्जा
आसीविसो वा कुविओ न भक्खे ।
सिया विसं हालहलं न मारे,
न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए ॥

स्यात् खलु सः पावको न दहेत्,
आशीविषो वा कुपितो न भक्षयेत् ।
स्यात् विषं हलाहलं न मारयेत्
न चापि मोक्षो गुरुहीलनया ॥

(८)

मूल— जो पव्वयं सिरसा भेत्तुमिच्छे
सुत्तं व सीहं पडिबोहएज्जा ।
जो वा दए सत्ति अग्गे पहारं
एसोवमासायणया गुरूणं ॥

संस्कृत— यः पर्वतं शिरसा भेत्तुमिच्छेत्
सुप्तं वा सिंहं प्रतिबोधयेत् ।
यो वा ददीत शक्त्यग्रे प्रहारं
एषोपमाऽशातनया गुरुणाम् ॥

(६)

चौपाई— **जलत अनल पर धावत सोई, आसीविसहि खिजावत सोई।**
जीवन-हेतु हलाहल खावै, जो गुरु-आसातना करावै॥

अर्थ—जो जलती अग्नि को लांघना चाहे, आशीविष सर्प को कुपित करे और जीने की इच्छा से विष को खावे (तो जैसे वह विनष्ट होगा) यही उपमा गुरुओं की आशातना की है। अर्थात् जैसे उक्त कार्य उसके विनाश के लिए हैं उसी प्रकार गुरु की आशातना भी उसकी विघातक है।

(७)

चौपाई— **जलत अनल वरु वाहि न जारै, आसीविस रिसिकरि नहिं मारै।**
विस हु हलाहलतें बचि जावै, पै गुरु-हीलक मुकति न पावै॥

अर्थ--आग लांघने वाले को संभव है कि वह न जलावे, संभव है कि आशी-विष सर्प कुपित होने पर भी न खावे, और यह भी संभव है कि खाया हुआ हलाहल विष भी न मारे। परन्तु गुरु की अवहेलना से मोक्ष संभव नहीं है।

(८)

चौपाई— **जो सिरसों गिरि फोरन धावै, जो जन सूतो सिंह जगावै।**
सकति-धार पर अंग प्रहारै, जो गुरु-आसातन मन धारै॥

अर्थ—यदि कोई शिर से पर्वत का भेदन करना चाहे अथवा सोते सिंह को [illegible]वे या तीक्ष्ण शक्ति के अग्रभाग पर पाद-प्रहार करे, तो वह अपना ही घात करता है, इसीप्रकार गुरु की आशातना से मनुष्य अपना ही सत्यानाश करता है।

(९)

मूल - सिया हु सीसेण गिरिं पि भिन्दे
सिया हु सीहो कुविओ न भक्खे ।
सिया न भिंदेज्ज व सत्तिअग्गं
न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए ॥

संस्कृत— स्यात्खलु शीर्षेण गिरिमपि भिन्द्यात्
स्यात्खलु सिंहः कुपितो न भक्षेत् ।
स्यान्न भिन्द्याद्वा शक्त्यग्रं
न चापि मोक्षो गुरुहीलनया ॥

(१०)

मूल— आयरियपाया पुण अप्पसन्ना
अबोहि आसायण नत्थि मोक्खो ।
तम्हा अणाबाह सुहाभिकंखी
गुरुप्पसायाभिमुहो रमेज्जा ॥

संस्कृत— आचार्यपादाः पुनरप्रसन्नाः
अबोधिमाशातनया नास्ति मोक्षः ।
तस्मादनाबाधसुखाभिकांक्षी
गुरुप्रसादाभिमुखो रमेत ॥

(११)

मूल— जहाहियग्गी जलणं नमंसे
नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं ।
एवायरियं उवचिट्ठएज्जा
अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥

संस्कृत— यथाऽऽहिताग्निर्ज्वलनं नमस्येद्
नानाहुतिमन्त्रपदाभिषिक्तम् ।
एवमाचार्यमुपतिष्ठेत
अनन्तज्ञानोपगतोऽपि सन् ॥

(९)

चौपाई— वरु सिर तें गिरि-भेदन होई, कोपेउ केहरि भखै न जोई।
सकति लगै हु न अंग छिदावै, पै गुरु-होलक मुकति न पावै॥

अर्थ—संभव है कोई शिर से पर्वत को भी भेद डाले, संभव है, सिंह कुपित होने पर भी न खावे और यह भी संभव है कि शक्ति का अग्रभाग भी उसका भेदन न करे परन्तु गुरु की अवहेलना से मोक्ष संभव नहीं है।

(१०)

चौपाई— गणि रुठे अबोधि उपजाही, आसातन तें मुकती नाहीं।
तातें जो अबाध सुख चहई, गुरु-प्रसाद सनमुख सो रहई॥

अर्थ—आचार्यपाद के अप्रसन्न होने पर बोधि-लाभ नहीं होता अर्थात् गुरु की आशातना से मोक्ष नहीं मिलता है। इसलिए मोक्ष सुख चाहने वाले मुनि को गुरु कृपा पाने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए।

(११)

चौपाई— विविधमंत्र आहुति अभिषिक्ता, वंदत अगनि अगनि के भक्ता।
आचारज सेइय विधि सोई, जो निज ज्ञान अनन्त हु होई॥

अर्थ—जैसे अग्निहोत्री ब्राह्मण नाना आहुति और मंत्र पदों से अभिषिक्त अग्नि को नमस्कार करता है, वैसे ही शिष्य को चाहिए कि अनन्त-ज्ञान-सम्पन्न होते हुए भी आचार्य की विनयपूर्वक सेवा करे।

(१२)

मूल—

जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे
तस्संतिए वेणइयं पउंजे ।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ
कायग्गिरा भो मणसा य णिच्चं ॥

संस्कृत—

यस्यान्तिके धर्मपदानि शिक्षेत
तस्यान्तिके वैनयिकं प्रयुञ्जीत ।
सत्कुर्वीत शिरसा प्राञ्जलिकः
कायेन गिरा भो मनसा च नित्यम् ॥

(१३)

मूल—

लज्जा दया संजम बंभचेरं
कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं ।
जे मे गुरु सययमणुसासयति
ते हं गुरु सययं पूययामि ॥

संस्कृत—

लज्जा दया संयमो ब्रह्मचर्यं
कल्याणभागिनः विशोधिस्थानम् ।
ये मां गुरवः सततमनुशासन्ति
तानहं गुरून् सततं पूजयामि ॥

(१४—१५)

मूल—

जहा निसंते तवणच्चिमाली
पभासई केवल भारहं तु ।
एवायरिओ सुयसीलबुद्धिए
विरायई सुरमज्झे व इंदो ॥
जहा ससी कोमुइ जोगजुत्तो
नक्खत्त - तारागणपरिवुडप्पा ।
खे सोहई विमले अब्भमुक्के
एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे ॥

(१२)

चौपाई— जाके निकट धरम पद धारे, ताके निकट विनय संचारे।
सिर-अंजुलि-जुत आदर करई, नित मन वचन करम अनुसरई ॥

अर्थ—जिस गुरु के समीप धर्म-पदों को सीखे, उसके समीप विनय का प्रयोग करे। शिरको झुका कर, हाथों को जोड़कर काया, वाणी और मन से उसका सदा सत्कार करे।

(१३)

कवित्त—

निन्दा-भय-रूप लाज, अनुकम्पारूप दया, जीवनि की रक्षा सोई संजम कहावै है।
तथा 'ब्रह्मचरज' ये चारी कर्म-मल हारी, थान सो कल्यान-भागी जन के बतावै है।
जोई गुरु सदा ऐसो सासन करत मोकू, 'वा गुरुकों सदा मैं तो पूजूं ऐसो चावै है।
सोई है विनीत सोई हूं है जगजीत सोई, शिष्य सदा भक्ति-भरे ऐसे भाव भावै है ॥

अर्थ—लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य कल्याणभागी साधु के लिए विशोधि स्थल है। जो गुरु मुझे उनकी सतत शिक्षा देते हैं, उनकी सदा पूजा करता हूँ।

(१४—१५)

छंद मुक्तादाम—

जथा निसि-नास भए पर सूर, प्रकासत भारत को भरपूर।
आचारज त्यों श्रुत-शील मती हि, लसै जिमि देवनि देव-पतीहि ॥
विना घन निर्मल पाय अकास, करै ससि कौमुदि संग प्रकास।
नखत्रनि तारनि के गन-मांहि, लखै गनि त्यों मुनि लोकनि मांहि ॥

अर्थ—जैसे रात्रि के अन्त होने पर दिन में तपता हुआ सूर्य सारे भारतवर्ष को प्रकाशित करता है, वैसे ही श्रुत, शील बुद्धि से संम्पन्न आचार्य विश्व को प्रकाशित करता है। और जिस प्रकार देवों के मध्य में इन्द्र शोभा पाता है उसी प्रकार

संस्कृत— यथा निशान्ते तपन्नर्चिमाली
प्रभासते केवलं भारतं तु ।
एवमाचार्यः श्रुतशीलबुद्धया
विराजते सुरमध्य इव चन्द्रः ॥
यथा शशी कौमुदीयोगयुक्तो
नक्षत्र-तारागणपरिवृतात्मा ।
खे शोभते विमलेऽभ्रमुक्ते
एवं गणी शोभते भिक्षुमध्ये ॥

(१६)

मूल— महागरा आयरिया महेसी
समाहिजोगे सुयसीलबुद्धिए ।
संपाविउकामे अणुत्तराइं
आराहए तोसए धम्मकामी ॥

संस्कृत— महाकरान् आचार्यान् महर्षिणः
समाधियोगस्य श्रुतशीलबुद्धया ।
सम्प्राप्तुकामोऽनुत्तराणि
आराधयेत्तोषयेद्धर्मकामी ॥

(१७)

मूल— सोच्चाण मेहावी सुभासियाइं
सुस्सूसए आयरियमप्पमत्तो ।
आराहइत्ताण गुणे अणेगे
से पावई सिद्धिमणुत्तरं ॥ —त्ति बेमि

श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि
शुश्रूषयेत् आचार्यान् अप्रमत्तः ।
आराध्य गुणान् अनेकान्
सः प्राप्नोतिसिद्धिमनुत्तराम् ॥ —इति ब्रवीमि

नवम विणय-९ माही अज्झयणे पढमो उद्देसो समत्तं ।

साधुओं के बीच में आचार्य शोभता है। जिस प्रकार मेघ-मुक्त निर्मल आकाश में नक्षत्र और तारागण से परिवृत्त शरद् चन्द्र शोभा पाता है, उसी प्रकार भिक्षुओं के बीच में गणी शोभा पाता है।

(१६)

कवित्त—

ज्ञान आदि रत्ननि की खान ही महान जान, महारिसि आचारज उत्तम उपाधिये।
ध्यान हू तें श्रुतके अभ्यास हू तें शील हू तें, बुद्धि हू विशुद्ध करि वाको सेव साधिये।
जासों बढ़ि उत्तम नहीं है कोऊ काहू थल, ऐसी मुकती को लैनों चाहै जो अबाधिये।
कामना धरै है जो पै धर्म को अराधवे की, उनको प्रसन्न कीजे, उनको अराधिये॥

अर्थ—अनुत्तर ज्ञान आदि गुणों की संप्राप्ति की इच्छा रखने वाला मुनि कर्म-निर्जरा का अर्थी होकर समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि के महान आकर (खानि) मोक्ष की एषणा करनेवाले आचार्य की आराधना करे और उन्हें प्रसन्न करे।

(१७)

छंद मुक्तादाम—

सुभाषित कों सुनिके मतिवान, अचारज सेव अनालस ठान।
अनेकनि नेक गुनानि अराध, अनुत्तर पावत मोक्ष अबाध॥

अर्थ—मेधावी मुनि इन सुभाषितों को सुनकर अप्रमत्त रहता हुआ आचार्य की शुश्रूषा करे। इस प्रकार अनेक गुणों की आराधना कर अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त करता है।

ऐसा मैं कहता हूं।

नवम विनय-समाधि अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त।

नवम विणयसमाही अज्झयणं

(बीओ उद्देसो)

(१—२)

मूल— मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाओ पच्छा समुवेंति साहा।
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता
तओ से पुप्फं च फलं रसो य॥
एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मोक्खो।
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं निस्सेसं चाभिगच्छई॥

संस्कृत— मूलात्स्कन्धप्रभवो द्रुमस्य
स्कन्धात्पश्चात्समुपयन्ति शाखाः।
शाखाभ्यः प्रशाखा विरोहन्ति पत्राणि
ततस्तस्य पुष्पं च फलं च रसश्च॥
एवं धर्मस्य विनयो मूलं परमस्तस्य मोक्षः।
येन कीर्तिं श्रुतं श्लाघ्यं निःशेषं चाधिगच्छति॥

(३)

मूल— जे य चंडे मिए थद्धे दुव्वाई नियडी सढे।
वुज्झइ से अविणीयप्पा कट्ठं सोयगयं जहा॥

सस्कृत— यश्च चण्डो मृगः स्तब्धो दुर्वादी निकृतिः शठः।
उह्यते सोऽविनीतात्मा काष्ठं स्रोतोगतं यथा॥

नवम विनय-समाधि अध्ययन

(द्वितीय उद्देशक)

(१—२)

कवित्त

मूल उतपन्न भये पेड़ उतपन्न होत; पेड़ हू के पाछैं तरु-साखा उपजति हैं,
साखातें प्रसाखा पुनि पत्र उपजत आन, तापै फूल फल रस हू की उतपति है।
तैसे ई विनय-मूल धरम-तरु को अहै, परम सुरस-रूप ताकी सिद्ध गति है,
विनयतें कीरति विनय ही तें श्रुत-गति, विनय तें सकल बड़ाई हू मिलति है॥

अर्थ—वृक्ष के मूल के स्कन्ध उत्पन्न होता है, स्कन्ध के पश्चात् शाखाएं आती हैं, शाखाओं में से प्रशाखाएँ निकलती हैं। उसके पश्चात् पत्र, पुष्प फल और रस होता है। इसी प्रकार धर्म का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल मोक्ष है। विनय के द्वारा मुनि कीर्ति, श्लाघा (प्रशंसा), श्रुत और समस्त इष्ट तत्त्वों को प्राप्त होता है।

(३)

अरिल्ल—

जो क्रोधी मति-हीन गरब में लीन है, कपटी वचन कठोर रु संजम हीन है।
वहै वहै अविनीत सृष्टि की सीर में, जैसे काठ वहंत स्रोत के नीर में॥

अर्थ—जो चण्ड (क्रोधी), मृग (मूर्ख, अज्ञ), स्तब्ध (मानी), अप्रियवादी, मायावी और शठ है वह अविनीतात्मा संसार के स्रोत (प्रवाह) में वैसे ही प्रवाहित होता रहता है जैसे कि नदी के स्रोत में पड़ा हुआ काठ बहता रहता है।

(४)

मूल— विणयं पि जो उवाएणं चोइओ कुप्पई नरो ।
दिव्वं सो सिरिमेज्जंतिं दंडेण पडिसेहए ॥

संस्कृत— विनयमपि य उपायेन चोदितः कुप्यति नरः ।
दिव्यां स श्रियमायान्तीं दण्डेन प्रतिषेधति ॥

(५—६)

मूल— तहेव अविणीयप्पा उववज्झा हया गया ।
दीसंति दुहमेहंता आभिओगमुवट्ठिया ॥
तहेव सुविणीयप्पा उववज्झा हया गया ।
दीसंति सुहमेहंता इड्ढिं पत्ता महायसा ॥

संस्कृत— तथैवाविनीतात्मान उपवाह्या हया गजाः ।
दृश्यन्ते दुःखमेधमानाः आभियोग्यमुपस्थिताः ॥
तथैव सुविनीतात्मान उपवाह्या हया गजाः ।
दृश्यन्ते सुखमेधमानाः ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ॥

(७—८)

मूल— तहेव अविणीयप्पा लोगंसि नर-नारिओ ।
दीसंति दुहमेहंता छाया विगलितेंदिया ॥
दंड-सत्थ परिजुण्णा असब्भ-वयणेहि य ।
कलुणा विवन्नछंदा खुप्पिवासाए-परिगया ॥

संस्कृत — तथैवाविनीतात्मानो लोके नर-नार्यः ।
दृश्यन्ते दुःखमेधमाना 'छाता' विकलितेन्द्रियाः ॥
दण्ड-शस्त्राभ्यां परिजीर्णाः असभ्य वचनैश्च ।
करुणा विपन्नच्छन्दसः क्षुत्पिपासया परिगताः ॥

(४)

अरिल्ल —

विनय धरम में प्रेरित काहु उपायतें, जो जन कोपित होवत हीन सुभाय तें ।
दिव्य रमा कों आवति कों वह मानवी, ताड़त दंड विखाय सही वह मानवी ॥

अर्थ—विनय में उपाय के द्वारा भी प्रेरित करने पर जो कुपित होता है, वह आती हुई दिव्य (स्वर्ग) लक्ष्मी को दण्डे से रोकता है।

(५—६)

अरिल्ल—

त्यों सेनापति आदिन के गज घोर हैं, आतम में अविनीतपनो धरि जो रहैं ।
ते दुख पावत हैं देखन में आवते, सेवा सहत करूर दंड पुनि पावते ॥
त्यों सेनापति आदिन के गज घोर हैं, आतम में सुविनीतपनो धरि जो रहैं ।
करते सुख के भोग सु देखे जावही, रिद्धि हु पावत जगत बड़ो जस गावही ॥

अर्थ—जो उपवाह्य (सवारी और युद्ध के काम में आने वाले) घोड़े और हाथी अविनीत होते हैं, वे सेवाकाल में दुःख भोगते हुए देखे जाते हैं। किन्तु जो उपवाह्य घोड़े और हाथी सुविनीत होते हैं वे ऋद्धि और महान यश को पाकर सुख को भोगते हुए देखे जाते हैं।

(७—८)

[अ]रिल्ल—

तैसे ही या जग में जे नर नार हैं, जिनके आतम में नहिं विनय विचार है ।
क्षत-विक्षत हो देह, तथा दुख पात हैं, इन्द्रिय-गनतें हीन सु देखे जात हैं ॥
दंड आयुधनि व्याकुल होय ते प्रान तें, कडुए बैन अजोग सुनें अपमान तें ।
भरे दीनता-भाव परे पर-हाथ हैं, भूखे प्यासे पीड़ित देखे जात हैं ॥

अर्थ—लोक में जो पुरुष और स्त्री अविनीत होते हैं, वे क्षत-विक्षत या दुर्बल, इन्द्रिय-विकल, दण्ड और शस्त्र के प्रहारों से जर्जर, असभ्य वचनों के द्वारा तिरस्कृत, करुण, परवश, भूख और प्यास से पीड़ित होकर दुख को भोगते हुए देखे जाते हैं।

(९)

मूल— **तहेव सुविणीयप्पा लोगंसि नर-नारिओ ।**
दीसंति सुहमेहंता इड्ढिं पत्ता महायसा ॥

संस्कृत— तथैव सुविनीतात्मानो लोके नर - नार्यः ।
दृश्यन्ते सुखमेधमाना ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ॥

(१०—११)

मूल— **तहेव अविणीयप्पा देवा जक्खा य गुज्झगा ।**
दीसंति दुहमेहंता आभिओगमुवट्ठिया ॥
तहेव सुविणीयप्पा देवा जक्खा य गुज्झगा ।
दीसंति सुहमेहंता इड्ढिं पत्ता महायसा ॥

संस्कृत— तथैवाविनीतात्मानो देवा यक्षाश्च गुह्यकाः ।
दृश्यन्ते दुःखमेधमाना आभियोग्यमुपस्थिताः ॥
तथैव सुविनीतात्मानो देवा यक्षाश्च गुह्यकाः ।
दृश्यन्ते सुखमेधमाना ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ॥

(१२)

मूल— **जे आयरिय-उवज्झायाणं सुस्सूसा वयणंकरा ।**
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति जलसित्ता इव पायवा ॥

संस्कृत— ये आचार्योपाध्याययोः सुश्रूषावचनकराः ।
तेषां शिक्षा प्रवर्धन्ते जलसिक्ता इव पादपाः ॥

(१३—१४)

मूल— **अप्पणट्ठा परट्ठा वा सिप्पा णेउणियाणि य ।**
गिहिणो उवभोगट्ठा इह लोगस्स कारणा ॥
जेण बंधं वहं घोरं परियावं च दारुणं ।
सिक्खमाणा नियच्छंति जुत्ता ते ललिइंदिया ॥

सस्कृत — आत्मार्थं परार्थं वा शिल्पानि नैपुण्यानि च ।
गृहिण उपभोगार्थं इहलोकस्य कारणाय ॥
येन बन्धं वधं घोरं परितापं च दारुणम् ।
शिक्षमाणा नियच्छन्ति युक्तास्ते ललितेन्द्रियाः ॥

(९)

अरिल्ल—

तैसे ही या जग में जे नर-नार हैं, जिनके आतम में सत विनय विचार हैं ।
करते सुख के भोग सु देखे जावहीं, रिद्धि हु पावत, जगत बड़ो जस गावही ।।

अर्थ—लोक में जो पुरुष या स्त्री सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं ।

(१०—११)

दोहा— **तथा आत्म-अविनीत जे गुह्यक यक्ष रु देव ।**
दीसत हैं दुख भोगते, करत पराई सेव ।।
तथा आत्म-सुविनीत जे, गुह्यक देव रु यक्ष ।
लिये रिद्धि अरु जस महा, सुख भोगत प्रत्यक्ष ।।

अर्थ—जो देव, यक्ष और गुह्यक (भवनवासी देव) अविनीत होते हैं, वे सेवा-काल में दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं । किन्तु जो देव, यक्ष और गुह्यक सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख भोगते हुए देखे जाते हैं ।

(१२)

पद्धरी— **जो जन आचारज उपाध्याय, सेवत सत वंननि सों सुभाय ।**
तिनकी शिक्षा इम बढ़त जात, जल सींचत ज्यों तरुवर बढ़ात ।।

अर्थ—जो साधु आचार्य और उपाध्याय की सुश्रूषा और आज्ञा-पालन करते उनकी शिक्षा जल से सींचे गये वृक्ष के समान बढ़ती है ।

(१३—१४)

पद्धरी— **अपने अथवा और के हेत, पटुपनो शिल्प-शिक्षा-समेत ।**
इह लोक-अराधन भोग-भाय, सीखैं जु गृही जन मन लगाय ।।
तिनमें लगि वे कोमल सरीर, सीखत-वेला पावैं जु पीर ।
वध बन्ध तथा परिताप जोर, गुरुदेव भयानक अरु कठोर ।।

अर्थ—जो गृहस्थ अपने दूसरों के लिए इह लौकिक उपभोग के निमित्त शिल्प और कला-नैपुण्य सीखते हैं, वे शिल्प ग्रहण करने में लगे हुए पुरुप ललितेन्द्रिय (कोमल सुकुमार शरीर) होकर भी शिक्षा-काल में घोर बन्ध, वध और दारुण परि-ताप (सन्ताप) को प्राप्त होते हैं ।

(१५)

मूल— तेवि तं गुरुं पूयंति तस्स सिप्पस्स कारणा ।
सक्कारेंति नमंसंति तुट्ठा निद्देसवत्तिणो ॥

संस्कृत— तेऽपि तं गुरुं पूजयन्ति तस्य शिल्पस्य कारणाय ।
सत्कुर्वन्ति नमस्यन्ति तुष्टा निर्देशवर्तिनः ॥

(१६)

मूल— किं पुण जे सुयग्गाही अणंतहियकामए ।
आयरिया जं वए भिक्खु तम्हा तं नाइवत्तए ॥

संस्कृत— किं पुनर्यः श्रुतग्राही अनन्तहितकामकः ।
आचार्या यद् वदेयुः भिक्षुस्तस्मात्तन्नातिवर्तयेत् ॥

(१७—१८)

मूल— नीयं सेज्जं गइं ठाणं नीयं च आसणाणि य ।
नीयं च पाए वंदेज्जा नीयं कुज्जा य अंजलि ॥
संघट्टइत्ता काएणं तहा उवहिणामवि ।
खमेह अवराहं मे वएज्ज न पुणो त्ति य ॥

संस्कृत— नीचां शय्यां गतिं स्थानं नीचं चासनानि च ।
नीचं च पादौ वन्देत नीचं कुर्याच्चाञ्जलिम् ॥
संघट्य कायेन तथोपधिनापि ।
क्षमस्वापराधं मे वदेन्न पुनरिति च ॥

(१९)

मूल— दुग्गओ वा पओएणं चोइओ वहई रहं ।
एवं दुब्बुद्धि किच्चाणं वुत्तो वुत्तो पकुव्वई ॥

संस्कृत— दुर्गतो वा प्रतोदेन चोदितो वहति रथम् ।
एवं दुर्बुद्धिः कृत्यानां उक्त उक्तः प्रकरोति ॥

(१५)

पद्धरी— ते हू ता गुरु को करत सेव, ता शिल्प-कला के हेतु एव ।
सत्कार करत अरु परत पांय, आज्ञा-वश-वर्तत मुदित भाय ।।

अर्थ—वे जन भी उस शिल्प-कला के लिए उस गुरु की पूजा करते हैं, सत्कार करते हैं, नमस्कार करते हैं और सन्तुष्ट होकर उसकी आज्ञा का पालन करते हैं।

(१६)

पद्धरी— फिर कहा, करत श्रुत-ग्रहण जोय, चाहत अनन्त-हित वह न जोय ।
यातें आचारज जो कहंत, नहिं करै उलंघन ताहि संत ।।

अर्थ - जो श्रुत-ग्रहण करने वाला और अत्यन्त हितस्वरूप मोक्ष का इच्छुक है उसका फिर कहना ही क्या है। इसलिए आचार्य जो कहे, भिक्षु उसका उल्लंघन न करे।

(१७—१८)

कवित्त—

नीची सेज नीची गति, नीचोई निवास गहै. आसन हू नीचो गुरुदेव जू ते गहिये,
नीचे झुकि चरन-कमलकों नमन कीजे, नीचे नमि शीस निज अंजुली हू लहिये।
काया उपकरन गुरु के जो परस भये तापै कर जोर ऐसे नम्र होय रहिये,
अहो भगवान्, अपराध मेरो क्षमा करो, 'अब न करूंगो ऐसो' ऐसे कछु कहिये।

अर्थ— साधु को चाहिए कि वह आचार्य से नीची अपनी शय्या रखे, नीची गति करे, नीचे खड़ा रहे, नीचा आसन रखे, नीचा होकर आचार्य के चरणों की वन्दना करे और नीचा होकर अंजलि करे (हाथ जोड़े)। अपनी काया से तथा उपकरणों से एवं किसी दूसरे प्रकार से आचार्य का स्पर्श हो जाने पर शिष्य इस प्रकार कहे—भगवन्! आप मेरा अपराध क्षमा करें, मैं फिर ऐसा नहीं करूंगा।

(१९)

द्रुतविलंबित—

बलद ज्यों बिगरेल सुभाय के, चपत चाबुक ताड़न पाय के।
रथ चलावत, त्यौं सिख कुमंती, करत काज कहाय कहाय के।।

अर्थ—जैसे दुष्ट बैल चाबुक आदि से प्रेरित होने पर रथ को वहन करता है, वैसे ही दुर्बुद्धि शिष्य आचार्य के बार-बार कहने पर कार्य करता है।

(२०)

मूल— आलवंते लवंते वा न निसेज्जाये पडिस्सुणे ।
मोत्तूणं आसणं धीरो सुस्सूसाए पडिस्सुणे ॥

संस्कृत— आलपन्तं लपन्तं वा न निषद्यायां प्रतिशृणुयात् ।
मुक्त्वाऽऽसनं धीरः शुश्रूषया प्रतिशृणुयात् ॥

(२१)

मूल— कालं छंदोवयारं च पडिलेहित्ताण हेउहिं ।
तेण तेण उवाएण तं तं संपडिवायए ॥

संस्कृत— कालं छन्दोपचारं च प्रतिलेख्य हेतुभिः ।
तेन तेन उपायेन तत्तत्संप्रतिपादयेत् ॥

(२२)

मूल— विवत्ती अविणीयस्स संपत्ती विणियस्स य ।
जस्सेयं दुहओ नायं सिक्खं से अभिगच्छइ ॥

संस्कृत— विपत्तिरविनीतस्य सम्पत्तिर्विनीतस्य च ।
यस्यैतद्द्विधा ज्ञातं शिक्षां सोऽभिगच्छति ॥

(२३)

मूल— जे यावि चंडे मइ इड्ढिगारवे
पिसुणे नरे साहस होणपेसणे ।
अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए
असंविभागी न हु तस्स मोक्खो ॥

संस्कृत— यश्चापि चण्डो मतिऋद्धिगौरवः
पिशूनो नरः साहसो हीनप्रेषणः ।
अदृष्टधर्मा विनयेऽकोविदो-
ऽसंविभागी न खलु तस्य मोक्षः ॥

(२०)

द्रुतबिलंबित—

कथित एक तथा बहु वेर के, थित स्व-आसन शासन ना सुनै'।
तजि तुरंतहिं आसन धीर सो, विनय-संजुत वैनन कों सुनै ।।

अर्थ—बुद्धिमान शिष्य गुरु के एक वार या बार-बार बुलाने पर कभी भी बैठा न रहे किन्तु आसन को छोड़कर शुश्रूषा के साथ उनके वचन को स्वीकार करे।

(२१)

द्रुतविलंबित—

समय कों गुरु के उरभाव कों, तिम हि सेवन के उपचार ही ।
लखि भली विधि तासु उपावकों, करत काज तथा अनुसार ही ।।

अर्थ—ऋतुओं के काल को, हृदय के अभिप्राय को और आराधना की विधि को हेतुओं से जानकर उस-उस उपाय के द्वारा उस-उस प्रयोजन को पूरा करे ।

(२२)

द्रुतविलंवित—

विपति होत सदा अविनीत कों, तिमहिं संपति होत विनीत कों ।
जिन लिये यह दोनऊं जान हैं, सु जन पावत सुंदर ज्ञान हैं ।।

अर्थ—अविनीति शिष्य को विपत्ति प्राप्त होती है और विनीत शिष्य को संपत्ति प्राप्त होता है, ये दोनों बातें जिसने जान ली हैं, वही शिष्य शिक्षा को प्राप्त होता है ।

(२३)

कवित्त—

चंड है सुभाव जाको क्रोध की अधिकता तें, रिद्धि की बड़ाई जाकी बुद्धि में समानी है,
चारी को करैया खोटो साहस धरैया तथा गुरु के वचन नहिं मानं अभिमानी है।
धर्म सों अजान त्यों न विनय सुजान सोई वर्जित विभाग, मति स्वारथ सों सानी है,
जाही जन माहीं ऐसे औगुन परे हैं आन, कैसे हू मुकति ऐसो पावत न प्रानी है ।।

अर्थ— जो नर चण्ड है, जिसे बुद्धि और ऋद्धि का गर्व है, जो पिशुन (चुगलखोर) है, साहसिक है जो गुरु की आज्ञा का यथासमय पालन नहीं करता, धर्म के स्वरूप को नहीं जानता, विनय से अपरिचित है और साथी साधुओं को लाये भोजन में से विभाग कर नहीं देता है, उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता है ।

(२४)

मल— निद्देसवत्ती पुण जे गुरूणं
सुयत्थधम्मा विणयम्मि कोविया ।
तरित्त ते ओहमिणं दुरुत्तरं
खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया ॥

- त्ति बेमि

संस्कृत— निर्देशवर्तिनः पुनर्ये गुरूणां
श्रुतार्थधर्माणो विनये कोविदाः ।
तीर्त्वा ते ओघमिमं दुरुत्तरं
क्षपयित्वा कर्म गतिमुत्तमां गताः ॥

—इति ब्रवीमि

नवम विणय-समाही अज्झयणे बीओ उद्देसो सम्मत्तं ।

(२४)

कवित्त—

गुरु अनुसासन में वहैं अनुसार सदा, आगम धरम हू के ज्ञाता अति नीके हैं,
बिनय धरम हू में परम प्रवीन भये, जिनमें सुलच्छ सारे सहज जती के हैं।
दुस्तर जगत-जलनिधि कों तरत तेई, करत बिनास सब करम कृती के हैं,
हुये अरु होवत हैं, होवहिंगे ऐसे जना प्रापत करैया परमोत्तम गती के हैं॥

अर्थ—जो गुरु के आज्ञाकरी हैं, जिनने धर्म का स्वरूप सुना और जाना है, जो विनय में कोविद (चतुर हैं), वे साधु इस दुस्तर संसार-समुद्र को तरकर और कर्मों का क्षयकर उत्तम गति को प्राप्त होते हैं।

ऐसा मैं कहता हूँ।

नवम विनय-समाधि अध्ययन में द्वितीय उद्देशक समाप्त।

नवम विणयसमाही अज्झयणं

(तइयो उद्देसो)

(१)

मूल—

आयरियं अग्गिमिवाहियग्गी
सुस्सूसमाणो पडिजागरेज्जा ।
आलोइयं इंगियमेव नच्चा
जो छंदमाराहयइ स पुज्जो ॥

संस्कृत—

आचार्यमग्निमिवाहिताग्निः
शुश्रूषमाणः प्रतिजागृयात् ।
आलोकितं इंगितमेव ज्ञात्वा
यश्छन्दमाराधयति स पूज्यः ॥

(२)

मूल—

आयारमट्ठा विणयं पउंजे
सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं ।
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो
गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥

संस्कृत—

आचारार्थं विनयं प्रयुञ्जीत
शुश्रूषमाणः परिगृह्य वाक्यम् ।
यथोपदिष्टमभिकांक्षन्
गुरुं तु नाशातयति स पूज्यः ॥

नवम विनयसमाधि अध्ययन

(तृतीय उद्देशक)

(१)

वेतालछन्द— अगनिहोत्री करत जैसे अगनि को सनमान,
आचार्य की आराधनामें त्यों धरै अवधान ।
दीठ-इंगित सों हिये के भाव कों लखि जोय,
करत सेवा भली विधि सों पूज्य सोई होय ।।

अर्थ—जैसे अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्नि की शुश्रूषा करता हुआ सदा जागरूक (सावधान) रहता है, वैसे ही जो साधु आचार्य की शुश्रूषा करता हुआ सदा सावधान रहता है, जो आचार्य के आलोकित (अवलोकन-दृष्टि) और इंगित (हृदय के अभिप्राय) को जानकर जो तदनुकूल उनकी आराधना करता है, वह साधु पूज्य है ।

(२)

वेतालछन्द— करन हेतु आचार-प्रापति करइ विनय-प्रयोग,
गहत गुरु के वचन कों मृदुवचन के संजोग ।
जथा गुरु उपदेश दीनों चहत करनों सोय,
खेद उपजावै न गुरु को पूज्य सोई होय ।।

अर्थ—जो साधु पांच प्रकार के आचार की प्राप्ति के लिए विनय का प्रयोग करता है, आचार्य की शुश्रूषा करता हुआ उनके वचनों को ग्रहण कर उपदेश के अनुसार आचरण करता है और जो गुरु की किसी भी प्रकार से आशातना नहीं करता है, वह पूज्य है ।

(३)

मूल— **राइणिएसु विणयं पउंजे**
डहरा वि य जे परियाय जेट्ठा ।
नियत्तणे वट्टई - सच्चवाई
ओवायवं वक्ककरे स पुज्जो ॥

संस्कृत— रात्निकेषु विनयं प्रयुञ्जीत
डहरा अपि ये पर्याय ज्येष्ठाः ।
नीचत्वे वर्तते सत्यवादी
अवपातवान् वाक्यकरः स पूज्यः ॥

(४)

मूल— **अन्नायउंछं चरई विसुद्धं**
जवणट्ठया समुयाणं च निच्चं ।
अलद्धुयं नो परदेवएज्जा
लद्धुं न विकत्थयई स पुज्जो ॥

संस्कृत— अज्ञातोञ्छं चरति विशुद्धं
यापनार्थं समुदानं च नित्यम् ।
अलब्ध्वा न परिदेवयेत्
लब्ध्वा न विकत्थते स पूज्यः ॥

(५)

मूल— **संथार सेज्जासण - भत्तपाणे**
अप्पिच्छया अइलाभे वि संते ।
जो एवमप्पाणऽभितोसएज्जा
संतोसपाहन्नरए स पुज्जो ॥

संस्कृत— संस्तार - शय्यासन - भक्तपाने
अल्पेच्छताऽतिलाभेऽपि सति ।
य एवमात्मानमभितोषयेत्
सन्तोषप्राधान्यरतः स पूज्यः ॥

(३)

वेतालछन्द— होय जिनमें अधिक गुन, तिनमें विनय बरताय,
बालवय हू प्रथम दीक्षा लई जिनने आय ।
नम्रता सों सदा बरतं सत्यभाषी सोय,
प्रनत भावनि सों रहै मुनि पूज्य सोई होय ॥

अर्थ—जो अल्पवयस्क होने पर भी दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ हैं, उन पूजनीय साधुओं के प्रति जो विनय का प्रयोग करता है, जो नम्र व्यवहार करता है, जो सत्यवादी है, जो गुरु के समीप सदा रहता है और गुरु की आज्ञा का विनय-भक्ति से ग़ालन करता है, वह साधु पूज्य है ।

(४)

वेतालछन्द— कुल अजानहु तें सदा गहि अलप अलप अहार,
उचित रीतिहु ते निवाहत राह संजम सार ।
जो न पावै तो नहीं कछु सोच मानत जोय,
पाय के बरनै नहीं कछु, पूज्य सोही होय ॥

अर्थ—जो साधु जीवन-यापन के लिए अपना परिचय न देते हुए विशुद्ध सामुदायिक उञ्छ (भिक्षा) की सदा चर्या करता है, जो भिक्षा न मिलने पर खेद नहीं करता और मिलने पर अपनी श्लाघा (प्रशंसा) नहीं करता है, वह साधु पूज्य है ।

(५)

वेतालछन्द सयन-आसन पान-भोजन, त्यों संथारक जोय,
बहुत पाये हू हिये जिहिं अलप इच्छा होय ।
या प्रकार जु आतमा में तोष मानत जोय,
मुख्य मानत जो संतोसहि, पूज्य सो ही होय ॥

अर्थ—संस्तारक, शय्या, आसन, भक्त और पान का अधिक लाभ होने पर भी जिसकी इच्छा अल्प होती है, जो आवश्यकता से अधिक नहीं लेता, जो इस प्रकार जिस किसी भी वस्तु से अपने आपको सन्तुष्ट कर लेता है और जो सन्तोष-प्रधान जीवन में निरत है, वही साधु पूज्य है ।

(६)

मूल— सक्का सहेउं आसाए कंटया
अओमया उच्छहया नरेणं ।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए
वईमए कण्णसरे स पुज्जो ॥

संस्कृत— शक्याः सोढुमाशयाः कण्टकः
अयोमया उत्सहमाणेण नरेण ।
अनाशया यस्तु सहेत कण्टकान्
वाङ्मयान् कर्णशरान् स पूज्यः ॥

(७)

मूल— मुहुत्तदुक्खा हु हवंति कंटया
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा ।
वाया - दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि
वेराणुबंधीणि महाभयाणि ॥

संस्कृत— मुहूर्त्तदुःखास्तु भवन्ति कण्टकाः
अयोमयास्तेऽपि ततः सूद्धराः ।
वाग - दुरुक्तानि दुरुद्धराणि
वैरानुबन्धीनि महाभयानि ॥

(८)

मूल— समावयंता वयणाभिघाया
कण्णंगया दुम्मणियं जणंति ।
धम्मो त्ति किच्चा परमग्गसूरे
जिइंदिए जो सहई स पुज्जो ॥

संस्कृत— समापतन्तो वचनाभिघाताः
कर्णंगता दौर्मनस्यं जनयन्ति ।
धर्मेति कृत्वा परमाग्रसूरोः
जितेन्द्रियो यः सहते स पूज्यः ॥

(६)

वेतालछन्द— **अरथ इच्छुक पुरुष जैसे अरथ की करि आस,**
होत समरथ सहनकों जो लोह-कटक-त्रास ।
करन के सर वचन मय जे कठिन कंटक होय,
तिनहिं आसाके सके सहि, पूज्य सो ही होय ॥

अर्थ—पुरुष धन आदि की आशा से लोहमय कांटों को सहन कर लेता है, परन्तु जो किसी भी प्रकार की आशा के बिना कानों में प्रवेश करते हुए वचन रूपी काँटों को सहन करता है, वह साधु पूज्य है ।

(७)

वेतालछन्द—

लोह के कंटक लागत ते कछु कालहि पीर करैं तन माहीं,
जो कछु यत्न करैं तिनको तब तो सहजे तनसों कढ़ि जाहीं ।
वाक्य कहे कडुए जु कठोर उघारन तो सहजं तिन नाहीं,
वैर के बंधन-हार अहैं वह घोर भयंकर हू पुनि आहीं ॥

अर्थ—लोहमयी कांटे अल्पकाल तक दुःखदायी होते हैं और वे शरीर में से सरलतापूर्वक निकाले जा सकते हैं । परन्तु दुर्वचन रूपी कांटे सहज में नहीं निकाले जा सकते । तथा वे वैर की परम्परा को बढ़ाने वाले और महा भयानक होते हैं ।

(८)

वेतालछन्द — दुखद वैन प्रहार को जब जूथ आवत होय,
स्रवन में परवेस करि मन करत खेदित सोय ।
धरम ताकों जानके भट परम अगुआ जोय,
इंद्रिय-जयी जो सहत उनकों, पूज्य सोई होय ॥

अर्थ—सर्व ओर से आते हुए वचन के प्रहार कानों में पहुंचकर दौर्मनस्य उत्पन्न करते हैं । जो शूरवीर व्यक्तियों में अग्रणी जितेन्द्रिय पुरुष 'इन्हें सहन करना मेरा धर्म है' यह मानकर उन्हें सहन करता है, वह साधु पूज्य है ।

(९)

मूल— अवण्णवायं च परम्मुहस्स
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं ।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥

संस्कृत— अवर्णवादं च पराङ्मुखस्य
प्रत्यक्षतः प्रत्यनीकां च भाषाम् ।
अवधारिणीमप्रियकारिणीं च
भाषां न भाषेत सदा स पूज्यः ॥

(१०)

मूल— अलोलुए अक्कुहए अमाई
अपिसुणे आवि अदीणवित्ती ।
नो भावए नो वि य भावियप्पा
अकोउहल्लो य सया स पुज्जो ॥

संस्कृत— अलोलुपोऽकुहकोऽमायी
अपिशुनश्चापि अदीनवृत्तिः ।
नो भावयन्नो अपि च भावितात्मा
अकौतूहलश्च सदा स पूज्यः ॥

(११)

मूल— गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहु
गिण्हाहि साहु-गुण मुंचऽसाहू ।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥

संस्कृत— गुणैः साधुरगुणैरसाधुः
गृहाण साधु गुणान् मुञ्चासाधून् ।
विज्ञाय आत्मकमात्मकेन
यो राग-द्वेषयोः समः स पूज्यः ।

(९)

वेतालछन्द— काहु के सनमुख पीठ पीछे करत निंदा जो न,
पर-विरोधिनि तथा निश्चित भनत भाखा को न ।
तथा अप्रियकारिणी नहिं कहत उकती कोय,
सदा ऐसो वरतई जन पूज्य सोई होय ॥

अर्थ—जो किसी के पीछे उसका अवर्णवाद नहीं करता, जो सामने विरोधी वचन नहीं कहता, जो निश्चयकारिणी और अप्रियकारिणी भाषा को नहीं बोलता, वह पूज्य है ।

(१०)

वेतालछन्द— लोभ में नहिं लगन जाकी, इन्द्रजाल-विहीन,
छल न धारै, चारि टारै, गहत वृत्ति अदीन ।
और सों नहिं जस करावत, आप करत न सोय,
कौतुकनि में रत नहीं जन, पूज्य सो ही होय ॥

अर्थ—जो रस-लोलुप नहीं होता, जो इन्द्र-जाल आदि के चमत्कार नहीं दिखाता, जो माया नहीं करता, जो चुगली नहीं खाता, जो दीनभाव से याचना नहीं करता, जो दूसरों से अपनी प्रशंसा नहीं करवाता, जो स्वयं भी अपनी प्रशंसा नहीं करता और जो कौतूहल नहीं करता, वही साधु पूज्य है ।

(११)

वेतालछन्द— साधु होवत सद् गुननि तें, औगननि हिं असाधु,
तजि असाधुपनो तथा ग्रहि साधुके गुन साधु ।
आप ही सों आपको उपदेश-दाता जोय,
राग-द्वेष हु में रहै सम, पूज्य सो ही होय ॥

अर्थ—मनुष्य सद्गुणों से साधु होता है और असद्गुणों से असाधु होता है । इसलिए हे भिक्षो, साधुओं के गुणों को ग्रहण कर और असाधुओं के गुणों को छोड़ । आत्मा को आत्मा से जानकर जो राग और द्वेष में समभाव रहता है, वही साधु पूज्य है ।

(१२)

मूल—

तहेव डहरं व महल्लगं वा
इत्थी पुमं पव्वइयं गिहिं वा ।
नो हीलए नो वि य खिसएज्जा
थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥

संस्कृत—

तथैव डहरं च महान्तं वा
स्त्रियं पुमान्सं प्रव्रजितं गृहिणं वा ।
नो हीलयेन्नो अपि च खिंसयेत्
स्तम्भं च क्रोधं च त्यजेत् स पूज्यः ॥

(१३)

मूल—

जे माणिया सययं माणयंति
जत्तेण कण्णं व निवेसयंति ।
ते माणए माणरिहे तवस्सी
जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो ॥

संस्कृत—

ये मानिताः सततं मानयन्ति
यत्नेन कन्यामिव निवेशयन्ति ।
तन्मानयेन्मानार्हांतपस्विनो
जितेन्द्रियान् सत्यरतान् स पूज्यः ॥

(१४)

मूल—

तेसिं गुरूणं गुणसागराणं
सोच्चाण मेहावि सुभासियाइं ।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो
चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥

संस्कृत—

तेषां गुरूणां गुणसागराणां
श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि ।
चरेन्मुनिः पञ्चरतस्त्रिगुप्तः
अपगतकषायचतुष्कः स पूज्यः ॥

(१२)

वेतालछन्द— बाल हो या वृद्ध हो, हो पुरुष अथवा नार,
प्रव्रजित हो या गृहस्थ हो, हो विज्ञ अथ च गंवार।
सुमिरन कराके कुकृत की लज्जित करै नहिं कोय,
मान अरु जो क्रोध छोड़े पूज्य सो ही होय ॥

अर्थ—बालक या वृद्ध, स्त्री या पुरुष, प्रव्रजित या गृहस्थ को दुश्चरित की याद दिलाकर जो लज्जित नहीं करता, उनकी निन्दा नहीं करता तथा जो गर्व और क्रोध का त्याग करता है, वही साधु पूज्य है।

(१३)

वेतालछन्द— मान जिनको करत ते नित करत ताको मान,
सुता जैसे जतन सों थिर करत उत्तम थान।
मान-लायक गनिन कों मानै तपस्वी जोय,
सत्य-रत इन्द्रिय-जयी जग-पूज्य सोई होय ॥

अर्थ— अभ्युत्थान आदि के द्वारा सम्मानित किये जाने पर जो शिष्यों का सदा सन्मान करते हैं, उन्हें श्रुत ग्रहण के लिए प्रेरित करते हैं, पिता जैसे अपनी कन्या को यत्न-पूर्वक योग्य कुल में स्थापित करता है, वैसे ही जो आचार्य अपने शिष्यों को योग्य मार्ग में लगाते हैं, उन माननीय तपस्वी, जितेन्द्रिय और सत्यव्रत-निरत आचार्य का जो सन्मान करता है, वही साधु पूज्य है।

(१४)

वेतालछन्द— सुगुन रत्ननि के जु सागर, तिन गुरुनि के जोय,
सुखद बैननि कों स्रवण करि बुद्धिमान जु होय।
पंच व्रत-रत, गुपति-त्रय-जत चरत मुनिवर जोय,
टारि चार कसाय कों, जग-पूज्य सो ही होय ॥

अर्थ—जो मेधावी मुनि उन गुण-सागर गुरुजनों से सुभाषित सुनकर उनका आचरण करता है, पांच महाव्रतों में रत मन, वचन, काय से गुप्त रहता है तथा क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों को दूर करता है वही साधु पूज्य है।

(१५)

मूल— गुरुमिह सययं पडियरिय मुणी
जिणमयनिउणे अभिगमकुसले ।
धुणिय रयमलं पुरेकडं
भासुरमउलं गइं गओ ॥

—त्ति बेमि

संस्कृत— गुरुमिह सततं प्रतिचर्य मुनिः
जिनमतनिपुणोऽभिगमकुशलः ।
धूत्वा रजोमलं-पुराकृतं
भास्वरामतुलां गतिंगतः ॥

—इति ब्रवीमि

नवम विणयसमाही अज्झयणे तइओ उद्देसो सम्मत्तं ।

(१५)

रोलाछन्द— जो मुनि गुरुकी सेव करत भलि भाँति निरन्तर,
जो जिन-मत-परवीन, कुसल, अभिगम-सेवा-पर।
पूरव-कृत रज-करम ध्वंस करि सो हित कामी,
अतुलनीय भास्वती सिद्धिगति कौ ह्वै स्वामी॥

अर्थ—इस लोक में गुरु की निरन्तर सेवा कर, जिनमत में निपुण और अभिगम (विनय-प्रतिपत्ति) में कुशल साधु पूर्वकृत रज और मल (द्रव्य और भाव-कर्म) को दूर कर प्रकाशमान अनुपम सिद्धगति को प्राप्त होता है।

ऐसा मैं कहता हूं।

नवम विनयसमाधि अध्ययन में तृतीय उद्देशक समाप्त।

नवम विणयसमाही अज्झयणं

(चउत्थो उद्देसो)

(१)

मूल— सुयं मे आउसं तेण भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिठाणा पन्नत्ता।

संस्कृत— श्रुतं मया आयुष्मन्, तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह खलु स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनयसमाधि-स्थानानि प्रज्ञप्तानि।

(२)

मूल— कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिठाणा पन्नत्ता।

संस्कृत— कतराणि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनयस॰ स्थानानि प्रज्ञप्तानि।

(३)

मूल— इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिठाणा पन्नत्ता। तं जहा—विणयसमाही, सुयसमाही, तवसमाही, आयारसमाही।

विणए सुए अ तवे आयारे निच्चं पंडिया।
अभिरामयंति अप्पाणं जे भवंति जिइंदिया॥

नवम विनय-समाधि अध्ययन

(चतुर्थ उद्देशक)

(१)

चौपाई— आयुष्मन, मैंने यह सुना, उन भगवान् ने ऐसा भना ।
चार विनय के समाधिस्थान, कहे थविर श्री वीर भगवान् ॥

अर्थ—हे आयुष्मन्, मैंने सुना है उन भगवान् ने इस प्रकार कहा—इस निर्ग्रन्थप्रवचन में स्थविर भगवन्त ने विनय-समाधि के चार स्थानों का प्रज्ञापन किया है ।

(२)

चौपाई— सो वे कौन हैं चारों थान, जिससे हो मेरा कल्यान ।
करहु कृपा मो पर गुरुदेव, कहहु जासतें लहुँ सुख एव ॥

अर्थ—वे विनय-समाधि के चार स्थान कौन से हैं, जिनका स्थविर भगवन्त ने प्रज्ञापन किया है ।

(३)

चौपाई— जिन्हें कहा स्थविर भगवंत, व चारों थानक इह भंत ।
विनय और श्रुत को जु समाधि, तपसमाधि, आचार-समाधि ॥

दोहा— विनय और श्रुत में तथा, तप में वा आचार ।
इनमें रत इन्द्रिय-जयी, पंडित गुणी विचार ।

द्रुतविलम्बित—

विनय में श्रुत में तप में तथा, मुनि अचारहु में निज-आत्म में ।
रहत हैं जु रमावत सर्वदा, वह जितेन्द्रिय होवत पंडिता ॥

संस्कृत— इमानि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनयसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा—विनयसमाधिः, श्रुतसमाधिः, तपःसमाधिः, आचारसमाधिः।

विनये श्रुते तपसि आचारे नित्यं पण्डिताः।
अभिरामयन्ति आत्मानं ये भवन्ति जितेन्द्रियाः॥

(४)

मूल— **चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ। तं जहा—अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ, सम्मं संपडिवज्जइ, वेयमाराहयइ, न य भवइ अत्तसंपग्गहिए, चउत्थं पयं भवइ। भवइ य इत्थ सिलोगो—**

पेहेइ हियाणुसासणं
सुस्सूसइ तं च पुणो अहिट्ठए।
न य माणमएण मज्जइ
विणयसमाही आययट्ठिए॥

संस्कृत— चतुर्विधः खलु विनयसमाधिर्भवति। तद्यथा—अनुशास्यमानाः शुश्रूषते, सम्यक् सम्प्रतिपद्यते, वेदमाराधयति, न च भवति सम्प्रगृहीतात्मा चतुर्थं पदं भवति। भवति चात्र श्लोकः—

स्पृहयति हितानुशासनं
शुश्रूषते तच्च पुनरधितिष्ठति।
न च मान मदेन माद्यति
विनयसमाधावायतार्थिकः॥

(५)

मूल— **चउव्विहा खलु सुयसमाही भवइ। तं जहा—सुयं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। चउत्थंपयं भवइ। भवइ य इत्थ सिलोगो—**

नाणमेगग्गचित्तो य ठिओ ठावयई परं।
सुयाणि य अहिज्जित्ता रओ सुयसमाहिए॥

अर्थ—विनय-समाधि के वे चार प्रकार ये हैं—जिनका स्थविर भगवान ने प्रज्ञापन किया है। जैसे—विनयसमाधि, श्रुतसमाधि, तपसमाधि और आचार-समाधि।

जो जितेन्द्रिय होते हैं वे पंडित पुरुष अपनी आत्मा को सदा विनय में, श्रुत में, तप में और आचार में लीन किये रहते हैं।

(४)

चौपाई— विनय समाधि चार परकार, गुरु-अनुशासन, श्रवण-विचार।
अनुशासन सम्यक् स्वीकार, ज्ञानाराधन निरहंकार ॥
हित-अनुशासन चाहै जोय, शुश्रूषा करि पालै सोय।
हो प्रमत्त जो विनयस्थान, करै कभी नहिं वह अभिमान ॥

अरिल्ल—

हित-अनुशासन सुनिवे की इच्छा करै, सादर सुनिके बहुरों बाकों अनुसरै।
नहिं मतवारो होय मान मद पायके, विनय समाधी सेय चित चाय के ॥

अर्थ—विनयसमाधि चार प्रकार की है। जैसे—(१) शिष्य आचार्य के अनुशासन को सुनना चाहता है, (२) अनुशासन को सम्यक् प्रकार से स्वीकार करता है, (३) वेद (ज्ञान) की आराधना करता है अथवा अनुशासन के अनुकूल आचरण कर आचार्य की वाणी को सफल बनाता है, और (४) आत्मोत्कर्ष (गर्व) नहीं करता। यह चौथा पद है। इस विषय में जो श्लोक है, उसका यह अर्थ है—

मोक्षार्थी मुनि (१) हितानुशासन की अभिलाषा करता है, (२) अनुशासन को ग्रहण करता है, (३) तदनुकूल आचरण करता है, और (४) मैं 'विनयसमाधि में कुशल हूं' इस प्रकार का गर्व कर उन्मत्त नहीं होता है।

(५)

चौपाई— श्रुतसमाधि चार परकार, श्रुत मेरे हो पाठ-विचार।
मन थिर हो, निज में रत रहू, पढ़कर पर को थापन करूं ॥

रोलाछन्द—

पावत सम्यक् ज्ञान चित्त हू होत ठिकाने, आप धरम थिर होय तथा औरनि को ठानैं।
करि नीके अध्ययन श्रुतनि को होवत ज्ञाता, श्रुतसमाधि के विषै रहत जाकरि मन राता ॥

दोहा— ज्ञान-प्राप्ति, एकाग्रता, थिर हो, पर कुं कराय।
यह विचार श्रुत को पढ़ै, श्रुत-समाधि कहलाय ॥

संस्कृत— चतुर्विधा खलु श्रुतसमाधिर्भवति। तद्यथा—श्रुतं मे भविष्यतीत्यध्येतव्यं भवति। एकाग्रचित्तो भविष्यामीत्यध्येतव्यं भवति। आत्मानं स्थापयिष्यामीत्यध्येतव्यं भवति। स्थितः परं स्थापयिष्यामीत्यध्येतव्यं भवति, चतुर्थं पदं भवति। भवति चात्र श्लोकः—

ज्ञानमेकाग्रचित्तश्च स्थितः स्थापयति परम्।
श्रुतानि चाधीत्य रतः श्रुतसमाधौ॥

(६)

मूल— **चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ। तं जहा—नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा। नो कित्ति-वण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा। चउत्थं पयं भवइ। भवइ य इत्थ सिलोगो—**

विविह गुण तवोरए य निच्चं
भवइ निरासए निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराणपावगं
जुत्तो सया तवसमाहिए॥

संस्कृत— चतुर्विधः खलु तपःसमाधिर्भवति। तद्यथा नो इह लो॰ तपोऽधितिष्ठेत्। नो परलोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत्। नो कीर्त्तिव॰ शब्दश्लोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत्। नान्यत्र निर्जरार्थात् तपोऽधितिष्ठेत् चतुर्थं पदं भवति। भवति चात्र श्लोकः—

विविधिगुणतपोरतश्च नित्यं भवति निराशको निर्जरार्थिकः।
तपसा धुनोति पुराणपापकं युक्तः सदा तपःसमाधिना॥

अर्थ श्रुतसमाधि चार प्रकार की है। जैसे—(१) 'मुझे श्रुत प्राप्त होगा' इसलिए अध्ययन करना चाहिए, (२) 'मैं एकाग्रचित्त होऊंगा' इसलिए अध्ययन करना चाहिए, (३) 'मैं अपनी आत्मा को धर्म में स्थापित करूंगा' इसलिए अध्ययन करना चाहिए, (४) और 'मैं धर्म में स्थित होकर दूसरों को उसमें स्थापित करूंगा' इसलिए अध्ययन करना चाहिए। यह चौथा पद है। इस विषय में जो श्लोक है, उसका यह अर्थ है—

अध्ययन से ज्ञान प्राप्त होता है, चित्त एकाग्र होता है, धर्म में स्वयं स्थित होता है और दूसरों को स्थिर करता है तथा अनेक प्रकार के श्रुत का अध्ययन कर श्रुतसमाधि में रत होता है।

(६)

चौपाई— तपसमाधि चार परकार, उभय लोकहित तप नहिं धार।
कीर्त्ति-हेतु नहिं तप को धार, कर्म-झरन-हित तप को धार॥

अरिल्ल -

विविधि गुननि जुत तप में जो लवलीन है, चहत निर्जरा और चाह करि हीन है।
तप कर पाप पुरातन काटत जात है, तपसमाधि में लग्यो रहत दिनरात है।

दोहा— विविधि तपोगुण-रत रहे, भवतें होय विराग।
करे कर्म की निर्जरा तपसमाधि में लाग॥

अर्थ—तप:समाधि चार प्रकार की है। जैसे (१) इहलोक के लाभ के लिए तप नहीं करे, (२) परलोक के लाभ के लिए तप नहीं करे, (३) कीर्त्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के लिए, अर्थात् किसी प्रकार की कीर्त्ति, नामवरी और प्रसिद्धि के लिए तप नहीं करे। (४) किन्तु केवल कर्मों की निर्जरा के लिए तप करे। यह चौथा पद है। इस विषय में जो श्लोक है, उसका अर्थ इस प्रकार है—

विविधि गुणयुक्त तप में रत रहता हुआ मुनि इहलौकिक और पारलौकिक सुखों के लिए आशा न करे, किन्तु केवल कर्म-निर्जरा के लिए तप करे। इस प्रकार के तप से वह पूर्व संचित कर्मों को नष्ट कर देता है। अतः साधु तप:समाधि में सदा संलग्न रहे।

(७)

मूल— **चउव्विहा खलु आयारसमाही भवइ । तं जहा—नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठेज्जा । चउत्थं पयं भवइ । भवइ य इत्थ सिलोगो—**

जिणवयणरए अतिंतिणे पडिपुण्णाययमाययट्ठिए ।
आयारसमाहिसंवुडे भवइ य दंते भावसंधए ।।

संस्कृत— चतुर्विधः खलु आचारसमाधिर्भवति । तद्यथा—नो इहलोकार्थमाचारमधितिष्ठेत्, नो परलोकार्थमाचारमधितिष्ठेत्, नो कीर्त्तिवर्णशब्दश्लोकार्थमाचारमधितिष्ठेत्, नान्यत्राऽर्हतेभ्यो हेतुभ्य आचारमधितिष्ठेत् । चतुर्थं पदं भवति । भवति चात्र श्लोकः—

जिन वचनरतोऽतिन्तिणः प्रतिपूर्णं आयातमायतार्थिकः ।
आचारसमाधि संवृतो भवति च दान्तो भावसन्धकः ।।

(८)

मूल— **अभिगम चउरो समाहिओ सुविसुद्धो सुसमाहियप्पओ ।**
विउलहिअसुहावहं पुणो कुव्वइ सो पयखेममप्पणो ।।

संस्कृत— अभिगम्य चतुरः समाधीन् सुविशुद्धः सुसमाहितात्मकः ।
विपुलहित सुखावहं पुनः करोति स पदं क्षेममात्मनः ।।

(७)

अरिल्ल—

चउविधि है आचारसमाधि भव्य हो, इहलोक-परलोक-निमित नाँहि पाल हो।
नहीं कीर्त्ति के अर्थ जु पालन कीजिए, जिन-भासित निज काजहिं धारन कीजिये॥

हरिगीतकछंद— जिन-वचन में रत रहत जो, कटु कहत हूं कटु नाँहि कहै,
परिपूर्ण आगम ज्ञान में, अति चाह शिवपद को गहै।
आचार-जनित समाधि सों सवरित आतम कीन है,
इंद्रिय-दमन में रमन करि सो करत मुकति अधीन है॥

अर्थ आचारसमाधि चार प्रकार की है। जैसे—(१) इहलोक के लाभ के लिए आचार को पालन नहीं करना चाहिए, (२) परलोक के लाभ के लिए आचार का पालन नहीं करना चाहिए, (३) कीर्त्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के लिए भी आचार का पालन नहीं करना चाहिए किन्तु (४)अरहन्त भगवन्त के द्वारा उपदिष्ट हेतुओं के लिए अर्थात् संवर और निर्जरा के लिए आचार का पालन करे, इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी कारण से आचार का पालन साधु को नहीं करना चाहिए। यह चौथा पद है। इस विषय में जो श्लोक है, उसका अर्थ इस प्रकार है—

जो जिनवचन में रत है, तुन-तुनाता नहीं है (बकवास नहीं करता), सूत्रार्थ से परिपूर्ण है और अत्यन्त शिक्षार्थी है, वह आचारसमाधि के द्वारा संवृत होकर इन्द्रिय और मन का दमन करने वाला साधु भाव-सन्धक (मोक्ष को निकट करने वाला) होता है।

(८)

हरिगीतकछन्द—यहि भांति सों विनयादि चारि समाधि कों चित चीन है।
भलि भाँति अपने आपकों जिन कियो संजम लीन है॥
अत्यन्त हित सुख-देनहारो करन जो कल्यान को।
सो साधु पावत है सही, वह परम पद निरवान को॥

अर्थ—इस प्रकार जो चारों समाधियों को जानकर सुविशुद्ध और सुसमाहित चित्त वाला होता है, वह अपने लिए विपुल हितकर और सुखकर मोक्ष को पाता है।

(६)

मूल— जाइ मरणाओ मुच्चई इत्थंथं च चयइ सव्वसो ।
सिद्धे वा भवइ सासए देवे वा अप्परए महड्ढिए ॥

—त्ति बेमि

संस्कृत— जातिमरणान्मुच्यते इत्थंस्थं च त्यजति सर्वशः ।
सिद्धो वा भवति शाश्वतो देवो वाल्परजा महर्धिकः ॥

—इति ब्रवीमि

नवम विनय-समाही अज्झयणे चउत्थो उद्देसो सम्मत्तो ।



(६)

हरिगीतक— विनयादि साधि समाधि के गुन, छुटत जनम रु मरन सों,
सब भांति अथवा नरक आदि रु टरत दुरगति-परन सों।
पद अचल पावत सिद्ध को, अथवा करम कछु बचि रहैं,
तो अलप मोही, महासंपति देवगति कों लहत हैं॥

अर्थ—जो साधु इन चारों प्रकार के समाधि स्थानों का पालन करता है, वह जन्म-मरण से मुक्त होता है, नरक आदि दुर्गतियों से छूट जाता है। वह या तो उसी भव से सिद्धपद पाता है अथवा अल्प कर्मवाला महर्धिक देव होता है।

ऐसा मैं कहता हूं।

नवम विनय-समाधि अध्ययन का चतुर्थ उद्देशक समाप्त।

दसम स भिक्खु अज्झयणं

(१)

मूल— निक्खम्ममाणाए बुद्धवयणे
निच्चं चित्तसमाहिओ हवेज्जा ।
इत्थीण वसं न यावि गच्छे
वं तं नो पडियायई जे स भिक्खू ।।

संस्कृत— निष्क्रम्याज्ञया बुद्धवचने
नित्यं समाहितचित्तो भवेत् ।
स्त्रीणां वशं न चापि गच्छेद्
वान्तं न प्रत्यादत्ते यः स भिक्षुः ।।

(२)

मूल— पुढवि न खणे न खणावए
सीओदगं न पिए न पियावए ।
अगणिसत्थं जहा सुनिसियं
तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ।।

संस्कृत— पृथ्वीं न खनेन्न खानयेत्, शीतोदकं न पिबेन्न पाययेत् ।
अग्निशस्त्रं यथा सुनिशितं तन्न ज्वलेन्न ज्वलयेद्यः स भिक्षु ।।

(३)

मूल— अनिलेण न वीए न वीयावए
हरियाणि न छिंदे न छिंदावए ।
बीयाणि सया विवज्जयंतो
सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ।।

दशम सभिक्षु अध्ययन

(१)

त्रिभंगीछन्द— **जिन-शासन मान्यो जग दुख जान्यो बंधन भान्यो कढ़ि आयो,**
भगवत की वानी आनद-खानी नित मन मानी हरखायो।
रमनी-छवि छाई, जो लखि पाई, ताहि लुभाई नहिं जावें,
वमि दीनी जाकों पियै न ताकों, भिक्षुक वाकों श्रुत गावै ॥

अर्थ—जो तीर्थंकर के उपदेश से घर से निकलकर और प्रव्रजित होकर निर्ग्रन्थ प्रवचन में सदा समाहित चित्त (समाधि-युक्त मनवाला) होता है, जो स्त्रियों के वश में नहीं होता, जो वमन किये हुए को वापिस नहीं पीता अर्थात् छोड़े हुए भोगों का पुनः सेवन नहीं करता है, वह भिक्षु है।

(२)

चौपाई— **पृथिवी को नहिं खनै खनावै, शीत सलिल नहिं पियै पियावै।**
तीख अगनि सथ जार न जोई, जरवावे नहिं, भिक्षुक सोई ॥

अर्थ—जो पृथिवी को न स्वयं खोदता है और न दूसरों से खुदवाता है, जो शीत (सचित्त) जल न स्वयं पीता है और न दूसरों को पिलवाता है, शस्त्र के समान सुतीक्ष्ण अग्नि को न स्वयं जलाता है और न दूसरों से जलवाता है, वह भिक्षुक है।

(३)

चौपाई— **पवनहु को बीजे न विजावै, हरिता कों छेदै न छिदावै।**
बरजत सदा बीजकों जोई, सचित न खावै भिक्षुक सोई ॥

अर्थ—जो पंखे आदि से न स्वयं हवा करता है और न दूसरों से कराता है, जो हरितकाय का छेदन न स्वयं करता है और न दूसरों से कराता है, जो बीजों का

संस्कृत— अनिलेन न व्यजेन्न व्यजयेद् हरितानि न छिन्द्यान्न छेदयेत् ।
बीजानि सदा विवर्जयन् सचित्तं नाहरेद्यः स भिक्षुः ॥

(४)

मूल— वहणं तस - थावराण होइ
पुढवितणकट्ठनिस्सियाणं ।
तम्हा उद्देसियं न भुंजे
नो वि पए न पयावए जे स भिक्खू ॥

संस्कृत— हननं त्रस-स्थावराणां भवति
पृथ्वीतृणकाष्ठनिश्रितानाम् ।
तस्मादौद्देशिकं न भुञ्जीत
नो अपि न पचेन्न पाचयेद्यः स भिक्षुः ॥

(५)

मूल— रोइय नायपुत्त वयणे
अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए ।
पंच य फासे महव्वयाइं
पंचासव संवरे जे स भिक्खू ॥

संस्कृत— रोचयित्वा ज्ञातपुत्रवचनं
आत्मसमान् मन्येत षडपि कायान् ।
पञ्च च स्पृशेन्महाव्रतानि
पञ्चास्रवान् संवृणुयाद्यः स भिक्षुः ॥

(६)

मूल— चत्तारि वमे सया कसाए
धुवजोगी य हवेज्ज बुद्धवयणे ।
अहणे निज्जायरूवरए
गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥

संस्कृत— चतुरो वमेत्सदा कषायान् ध्रुवयोगी च भवेद् बुद्धवचने ।
अघनो निर्जातरूपरजतो गृहियोगं परिवर्जयेद्यः स भिक्षुः ॥

सदा वर्जन करता है अर्थात् उनके स्पर्श से दूर रहता है और जो सचित्त का आहार नहीं करता, वह भिक्षु है।

(४)

छन्द— पृथिवी तृन काठ में रहे, जीव चराचर को विनास होई।
उद्दिष्ट भोजन न लहे, न पचे, न पचावे जु भिक्षु तोई॥

अर्थ—भोजन बनाने में पृथिवी, तृण और काष्ठ के आश्रय में रहे हुए त्रस और स्थावर जीवों का वध होता है, अतः जो औद्देशिक (अपने निमित्त बना हुआ) भोजन नहीं खाता तथा जो न स्वयं पकाता है और न दूसरों से पकवाता है, वह भिक्षु है।

(५)

छन्द— रुचि मानि जु वीर-वानि में, आप समान छकाय जान जोई।
पंच आस्रव संवरे सही, पंच महाव्रत-लीन भिक्खु सोई॥

अर्थ—जो ज्ञात-पुत्र के वचन में श्रद्धा रखकर छहों कायों के जीवों को अपने समान मानता है, जो पांच महाव्रतों का पालन करता है और जो पांच आस्रवों का संवरण करता है, वह भिक्षु है।

(६)

छन्द— तजि चार कसाय कों सदा जोग दृढ़ो जिन-बैन-लीन होई।
जु रखै धन स्वर्ण रूप्य ना, गेहिक-जोग तजै जु भिक्षु होई॥

अर्थ—जो क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों का परित्याग करे, जो निर्ग्रन्थ प्रवचन में ध्रुवयोगी है (अटल श्रद्धा रखने वाला और दैनिक छहों आवश्यकों का नियमपूर्वक पालन करने वाला है), जो निर्धन है, सुवर्ण और चाँदी से रहित है, जो गृहियोग (लेन-देन, क्रय-विक्रय आदि) का वर्जन करता है, वह भिक्षु है।

(७)

मूल— सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे
अत्थि हु नाणे तवे संजमे य ।
तवसा धुणइ पुराण पावगं
मणवयणकायसंवुडे जे स भिक्खू ।।

संस्कृत— सम्यग्दृष्टिः सदाऽमूढोऽस्ति खलु ज्ञानं तपः संयमश्च ।
तपसा धुनोति पुराणपावकं सुसंवृतमनोवाक्कायः यः स भिक्षुः ।।

(८)

मूल— तहेव असणं पाणगं वा
विविहिं खाइम-साइमं लभित्ता ।
होही अट्ठो सुए परे वा
तं न निहे न निहावए जे स भिक्खू ।।

संस्कृत— तथैवाशनं पानकं वा
विविधं खाद्यं स्वाद्यं लब्ध्वाः ।
भविष्यत्यर्थः श्वः परस्मिन् वा
तं न निदध्यान्न निधापयेद्यः स भिक्षुः ।।

(९)

मूल— तहेव असणं पाणगं वा
विविहं खाइम - साइमं लभित्ता ।
छंदिय साहम्मियाण भुंजे
भोच्चा सज्झायरए य जे स भिक्खू ।।

संस्कृत— तथैवाशनं पानकं वा
विविधं खाद्यं स्वाद्यं लब्ध्वा ।
छन्दयित्वा साधर्मिकान् भुञ्जीत,
भुक्त्वा स्वाध्यायरतश्च यः स भिक्षु ।।

(७)

छन्द— समदीठ सदा अमूढ जो, संजम ज्ञान तपे विसासि होई ।
तपसों नसि पाप-पूर्व के संवृत जासु त्रिजोग भिक्षु सोई ॥

अर्थ—जो सम्यक्‌दर्शी है, जो सदा अमूढ़ है, जो ज्ञान, तप और संयम के अस्तित्व में आस्थावान् है, जो तप के द्वारा पुराने पापों को नष्ट करता है, जो मन, वचन और काय से सुसंवृत है, वह भिक्षु है ।

(८)

चौपाई— चार प्रकार आहारहिं पाई कल वा परसों भागि हैं याही ।
यों चहि वासि न राखत जोई, न हिं रखवावत भिक्षुक सोई ॥

अर्थ—जो पूर्वोक्त विधि से विविध प्रकार के अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य आहार को प्राप्त कर 'यह कल या परसों काम आयगा', इस विचार से संचय नहीं करता है और न दूसरों से संचय करवाता है, वह भिक्षु है ।

(९)

चौपाई— चार प्रकार अहारहिं पाई, समधरमिन निमंत्रि के खाई ।
पुनि प्रवचन-पाठहिं रत होई, या विधि करै भिक्षु है सोई ॥

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकार से विविधि अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य आहार को प्राप्त कर जो अपने साधर्मिकों को निमंत्रित कर उनके साथ भोजन करता है और जो भोजन कर चुकने पर स्वाध्याय में रत रहता है, वह भिक्षु है ।

(१०)

मूल— न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा
न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते ।
संजम धुवजोगजुत्ते
उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू ।।

संस्कृत— न च वैग्रहिकीं कथां कथयेन्न
च कुप्येन्निभृतेन्द्रियः प्रशान्तः ।
संयमध्रुवयोगयुक्तः
उपशान्तोऽविहेडको यः स भिक्षुः ।।

(११)

मूल— जो सहइ हु गामकंटए
अक्कोस पहारतज्जणाओ य ।
भय - भेरव - सद्द - संपहासे
समसुहदुक्खसहे य जे स भिक्खू ।।

संस्कृत— यः सहते खलु ग्रामकण्टकान्
आक्रोश - प्रहार तर्जनाश्च ।
भय - भैरव - शब्द - संप्रहासान्
समसुख-दुःख सहश्च यः स भिक्षुः ।।

(१२)

मूल— पडिमं पडिवज्जिया मसाणे
नो भायए भय-भेरवाइं दिस्स ।
विविह गुण तवोरए य निच्चं
न सरीरं चाभिकंखई जे स भिक्खू ।।

संस्कृत— प्रतिमां प्रतिपद्य श्मशाने,
नो बिभेति भय-भैरवानि दृष्ट्वा ।
विविध गुणतपोरतश्च नित्यं
न शरीरं चाभिकांक्षति यः स भिक्षुः ।

(१०)

चौपाई— **कलह-कारिनी बात न कहई, कोप न करै, शान्त जो रहई ।**
अचल जोग संजम में जोरै, उचित बातकों कबहुँ न तोरै ॥
इन्द्रिय उद्धत होय न जाके, मन में शान्ति बसै है ताके ।
रहत भाव उपशान्तनि जोई, इन्द्रिय-जयी भिक्षु है सोई ॥

अर्थ—जो कलह-कारी कथा नहीं करता, जो कुपित नहीं होता, जिसकी इन्द्रियां अनुद्धत हैं, जो प्रशान्त है, संयम में ध्रुवयोगी है, उपशान्त है, और जो दूसरों को तिरस्कृत नहीं करता वह भिक्षु है ।

(११)

कवित्त—

इंद्रिनि के कांटे ऐसे सहत दुखद जोग, कटुक कठोर कुवचन हू सहावे हैं,
कोऊ धमकावै औ डरावै तऊ सहै ताहि, करै मारपीट तोऊ नाम न लहावै है ।
भैरव आदिक भय-कारक सबद घोर, अट्टहास आदि त्रासवास हू गहावै है,
सुख अरु दुःख दोऊ सहत समान भाव, इच्छुक मुकति के ते भिक्षुक कहावें है ॥

अर्थ—जो श्रोत्रादि इन्द्रियों को कांटे के समान चुभने वाले कठोर वचन, प्रहार और ताड़ना-तर्जनादि को समभावपूर्वक सहन करता है, जो अत्यन्त भय को उत्पन्न करने वाले भूत-बैताल के शब्दों को, उनके अट्टहासों को सहन करता है तथा सुख और दुःख को समभाव पूर्वक सहन करता है, वह भिक्षु है ।

१(२)

छन्द— **प्रतिमा गहि के मसान में भैरव-भीति लखे डरै न जोई ।**
नित लीन तप औ गुननिमें, देह हु को नहिं चाह भिक्षु सोई ॥

अर्थ जो श्मशान में प्रतिमायोग को ग्रहण कर अत्यन्त भयानक दृश्यों को देखकर नहीं डरता, जो नाना प्रकार के मूल गुणों और उत्तरगुणों में तथा तपों में निरत रहता है और जो मरणान्तक भय आ जाने पर भी शरीर के बचाने की आकांक्षा नहीं करता है, वह भिक्षु है ।

(१३)

मूल—

असइं वोसट्ठ चत्तदेहे
अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा ।
पुढविसमे मुणी हवेज्जा
अनियाणे अकोउहल्ले य जे स भिक्खू ॥

संस्कृत—

असकृद् व्युत्सृष्ट त्यक्तदेह
आक्रुष्टो वा हतो वा लूषितो वा ।
पृथ्वीसमो मुनिर्भवेदनिदानो-
ऽकौतूहलो यः स भिक्षुः ॥

(१४)

मूल—

अभिभूय काएण परीसहाइं
समुद्धरे जाइपहाओ अप्पयं ।
विइत्तु जाईमरणं महब्भय
तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥

संस्कृत—

अभिभूय कायेन परिषहान्
समुद्धरेऽजातिपथादात्मकम् ।
विदित्वा जातिमरणं महाभयं
तपसिरतः श्रामण्ये यः स भिक्षुः ।

(१५)

मूल—

हत्थसंजए पायसंजए
वायसजए संजइंदिए ।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा
सुत्तत्थं च वियाणई जे स भिक्खू ॥

संस्कृत—

हस्तसंयतः पादसंयतः
वाक्संयतः संयतेन्द्रियः ।
अध्यात्मरतः सुसमाहितात्मा
सूत्रार्थं च विजानाति यः स भिक्षुः ॥

(१३)

नाराचछन्द— सदैव देह-राग को जु त्याग ही किये रहै,
कुवाक्य मार-पीट, देह-घाव हू भए सहै।
मही-समान ह्वै मुनी निदान-हीन होय है,
तजै कुतूहलानि कों सु भिक्षु होत सोय है॥

अर्थ—जो मुनि बार-बार देह का व्युत्सर्ग और त्याग करता जो गाली सुनने, पीटे और काटे जाने पर भी पृथ्वी के समान सब कुछ सहता है जो निदान नहीं करता और जो कौतूहल-रहित है, वह भिक्षु है।

(१४)

छन्द— परीसहानि को जीति देहसों, जनम-पंथ सों आत्म-उद्धरे।
भय महालखी जन्म-मृत्यु को श्रमनता तपोलीन भिक्षु सो॥

अर्थ—जो शरीर से परीषहों को जीतकर (सहन कर) जाति-पथ (संसार) से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरण को महा भयकारी जानकर श्रमण-सम्बन्धी तप में रत रहता है, वह भिक्षु है।

(१५)

छन्द— कर-संजती पाय-संजती वचन-संजती इंद्रि-संजती।
रत अध्यात्म में, शान्त आतमा, लखत सूत्र के अर्थ भिक्षु सो॥

अर्थ—जो हाथों से संयत है, पैरों से संयत है, वाणी से संयत है, इन्द्रियों से संयत है, जो अध्यात्म में रत है, जो भली-भांति समाधिस्थ है तथा जो सूत्र और अर्थ को यथार्थ रूप से जानता है, वह भिक्षु है।

(१६)

मूल—

उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे
अन्नायउंछं पुलनिप्पुलाए ।
कय-विक्कयसन्निहिओ विरए
सव्वसंगावगए य जे स भिक्खू ॥

संस्कृत—

उपधौ अमूर्च्छितोऽगृद्धो-
ऽज्ञातोञ्छं पुलोनिष्पुलाकः ।
क्रय-विक्रयसन्निधितो विरतः
सर्वसङ्गापगतो यः स भिक्षुः ॥

(१७)

मूल—

अलोलभिक्खू न रसेसु गिद्धे
उंछं चरे जीविय नाभिकंखे ।
इड्ढिं च सक्कारण पूयणं च
चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥

संस्कृत—

अलोलो भिक्षुर्न रसेषुगृद्ध
उञ्छं चरेज्जीवितं नाभिकांक्षेत् ।
ऋद्धिं च सत्कारणं पूजनं च
त्यजति स्थितात्माऽनिभो यः स भिक्षुः ॥

(१८)

मूल—

न परं वएज्जासि अयं कुसीले
जेणन्नो कुप्पेज्ज न तं वएज्जा ।
जाणिय पत्तेयं पुण्ण-पावं
अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू ॥

संस्कृत—

न परं वदेदयं कुशीलो
येनान्यः कुप्येन्न तं वदेत् ।
ज्ञात्वा प्रत्येकं पुण्य-पापमात्मनं
न समुत्कर्षयेद्यः स भिक्षुः ।

(१६)

चौपाई— उपधि-हीन, ना मूरछा लहै, अलख वंश में गोचरि गहै ।
संजम-सार-हा दान न गहै, क्रय-विक्रय सों दूर ही रहै ॥
कछु रखै नहिं संचि के तथा, भिक्षु सगसों मुक्त सर्वथा ।
सार सजम की संभालमें रहै, भिक्षु सोही जिन-मार्ग में ॥

अर्थ—जो मुनि वस्त्र-पात्रादि उपधि (उपकरणों) में मूर्च्छित नहीं है, जो गृद्धि-रहित है, जो अज्ञात घरों से भिक्षा ग्रहण करता है, जो संयम को दूषित करने वाले दोषों का कभी सेवन नहीं करता है. जो क्रय-विक्रय और संग्रह नहीं करता है और जो सर्व प्रकार के परिग्रह से रहित है वह भिक्षु है ।

(१७)

चौपाई रत रसानि में जो नहिं रहै, लुब्ध भावसों ना कछु चहै ।
अलख गोत्रतें गोचरी गहै, संजम-हीन ना जीवन चहै ॥
ऋद्धि और सत्कार न चाहै, पूजा कीर्त्ति भाव परिहारै ।
आत्म ज्ञान में थिर जो रहै, कपट तजै सो भिक्षु अहै ॥

अर्थ—जो भिक्षु लोलुपता रहित है, रसों में गृद्ध नहीं है, जो उञ्छचारी है (अज्ञातकुलों से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेता है), जो असंयमी जीवन की आकांक्षा नहीं करता, जो ऋद्धि सत्कार और पूजा भी नहीं चाहता, जो स्थितात्मा है और माया-रहित है, वह भिक्षु है ।

(१८)

चौपाई— परहिं ना कहै 'यो कुशील है' कुपित होन के वैन ना कहै ।
करत जो कछू पुन्य-पाप को, फल लहै वहै आप आपको ॥
निज समुत्कर्ष जो न प्रगट करै, विनयभाव सदा मन में धरै ।
निज महत्त्व को जो न मान ही, मद-विहीन जो भिक्षु है वही ॥

अर्थ—जो किसी भी दूसरे व्यक्ति से 'यह कुशील (दुराचारी है), ऐसा वचन नहीं कहता, जिसे सुनकर दूसरा कुपित हो, ऐसे वचन भी नहीं बोलता, जो प्रत्येक जीव के पुण्य-पाप को जानकर उनकी ओर ध्यान न देकर अपने ही दोषों को दूर करता है और जो अपने आपको सबसे बड़ा मानकर अभिमान नहीं करता, वह भिक्षु कहलाता है ।

(१९)

मूल— न जाइमत्ते नय रूवमत्ते
न लाभमत्ते न सुएण मत्ते ।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता
धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥

संस्कृत— न जातिमत्तो न च रूपमत्तो न लाभमत्तो न श्रुतेन मत्तः ।
मदान् सर्वान् विवर्ज्य धर्मध्यानरतो यः स भिक्षुः ॥

(२०)

मूल— पवेयए अज्जपयं महामुणी
धम्मे ठिओ ठावयई परं पि ।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिंगं
न यावि हस्सकुहए जे स भिक्खू ॥

संस्कृत— प्रवेदयेदार्यपदं महामुनिर्धर्मे
स्थितः स्थापयति परमपि ।
निष्क्रम्य वर्जयेत् कुशीललिंगं
न चापि हास्य कुहको यः स भिक्षुः ॥

(२१)

मूल— तं देहवासं असुइं असासयं
सया चए निच्च हियट्ठियप्पा ।
छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधणं
उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥

— त्ति

संस्कृत — तं देहवासमशुचिमशाश्वतं सदा त्येजन्नित्यहितः स्थितात्मा।
छित्वा जातिमरणस्य बन्धनमुपैति भिक्षुरपुनरागमां गतिम् ॥

— इति ब्रवीमि

दसम भिक्खू अज्झयणं समत्त ।

(१६)

कवित्त—

मेरी जाति ऊंची और नीचे सब मोतें केते, ऐसो 'जातिमद' तामें मत्त हूं न रहिये,
त्यों ही 'मैं सुरूपवारो' ऐसो रूप मद तजै, प्रापति को मान 'लाभ-मद' हू गहिये।
मेरे श्रुतज्ञान बड़ो, ऐसो 'श्रुतमद' तजै, याही विधि सारे मद त्याग किये चहिये,
इनकों न आन कर, धरत धरम ध्यान धर्म सों करत रति 'भिक्षुक' सो कहिये ॥

अर्थ— जो जाति का मद नहीं करता, जो रूप का मद नहीं करता, जो लाभ का मद नहीं करता, जो श्रुत का मद नहीं करता, जो सब मदों का त्याग कर धर्मध्यान में रत रहता है, वह भिक्षु है।

(२०)

कवित्त—

जाके आचरन कीने आतम अमल होत, ऐसो आर्य-उपदेश आप नित करत है,
पाप-पंथ टारि आप धरम में थित भये, औरनि को थापन की बाट हू वहत है।
जगततें निकसि के जोगी को सरूप लीनो, भोगी से कुसीलभाव फेर ना गहत है,
हास औ कुतूहल को करत न महामुनि, ऐसो ढंग जाको ताको 'भिक्षुक' कहत है ॥

अर्थ—जो महामुनि आर्यपद (धर्मपद) का उपदेश करता है, जो स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरे को भी धर्म में स्थित करता है, जो प्रव्रजित होकर कुशीललिंग को छोड़ देता है और जो दूसरों को हंसाने के लिए कौतूहल-पूर्ण चेष्टा नहीं करता, वह भिक्षु है।

(२१)

कवित्त—

सासतो न भासत, कुवासना को रास महा, त्रास को विनास, देह-वास दुखदाई है,
ताकों नित तजत, भजत हित आतमा को, सजत सकल भय-हरन उपाई है।
जनम-निकंदन के कंदन के बंधन को, करिके निकंदन अनंद उमगाई है,
भिक्षु ऐसी पावन परम गति पावत है, जावत जहाँ सो फेर आवत न जाई है।

अर्थ—अपनी आत्मा को सदा शाश्वत हित में सुस्थित रखने वाला भिक्षु इस अशुचि और अशाश्वत देह-वास को सदा के लिए त्याग देता है और वह जन्म-मरण के बन्धन को छेदकर जहां से फिर आगमन नहीं है, ऐसी अपुनरागम गति अर्थात् सिद्ध गति को प्राप्त होता है।

ऐसा मैं कहता हूँ।

दशम सभिक्षु अध्ययन समाप्त।

पढमा रइवक्का चूलिया

मूल— इह खलु भो, पव्वइयेणं उप्पन्नदुक्खेणं संजमे अरइसमावन्नचित्तेणं ओहाणुप्पेहिणा अणोहाइएणं चेव हयरस्सि-गयंकुस-पोय-पडागा-भूयाइं इमाइं अट्ठारस ठाणाइं सम्मं संपडिलेहियव्वाइं भवंति ।

संस्कृत— इह खलु भोः, प्रव्रजितेन उत्पन्नदुःखेन संयमेऽरतिसमापन्नचित्तेन अवधानोत्प्रेक्षिणा अनवधावितेन चैव हयरश्मि-गजाङ्कुश पोत-पताकाभूतानि इमान्यष्टादशस्थानानि सम्यक् संप्रतिलेखितव्यानि भवन्ति ।

मूल— तं जहा···

(१) हं भो दुस्समाए दुप्पजीवी ।

(२) लहुस्सगा इत्तरिया गिहीणं कामभोगा ।

(३) भुज्जो य साइबहुला मणुस्सा ।

(४) इमे य मे दुक्खे न चिरकालोवट्ठाई भविस्सइ

(५) ओमजण पुरक्कारे ।

(६) वंतस्स य पडियाइयणं ।

प्रथम रतिवाक्या चूलिका

चौपाई— जो प्रव्रजित हो मोहाधीन, तजन चहै संजम नर दीन ।
संजम-तजन पूर्व मुनिराय, निम्नलिखित थानक मन लाय ।।
इनके चितें संवर होय, गिरता साधु तुरत थिर होय ।
जैसे गज अंकुश-वश होय, या लगाम-वस वाजी होय ।।
ज्यों ध्वज-वश नौका थिर होय, त्योंही डिगता मुनि थिर होय ।
तातें आत्मद, भाव लगाय, इनको सुमरैं नित चित्त लाय ।।

अर्थ—भो मुमुक्षुओ, दीक्षा लेने के बाद शारीरिक या मानसिक दुःख उत्पन्न होने से संयम में अरति भाव उत्पन्न हो जाय, अर्थात् संयम-मार्ग में चित्त न लगे, और संयम को छोड़कर गृहस्थाश्रम में वापिस जाने की इच्छा जागृत हो जाय तो संयम छोड़ने से पूर्व निम्नलिखित अठारह स्थानों का भली-भाँति विचार करना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार लगाम से चंचल घोड़ा वश में आ जाता है, अंकुश से मन्दोमत्त हाथी वश में आ जाता है और समुद्र की उत्ताल तरंगों से गोते खाती हुई नाव जैसे पतवार से स्थिर हो जाती है, उसी प्रकार वक्ष्यमाण अठारह स्थानों के विचार करने पर चंचल और डांवाडोल साधु का चित्त भी संयम में पुनः स्थिर हो जाता है।

वे अठारह स्थान इस प्रकार हैं—

चौपाई— (१) अहो विकट यह दूसम कालै, कठिनाई से जीविका चालै ।
(२) गृहीजनों के काम जु भोग, अलपसार, लघुकाल संजोग ।।
(३) अबके मनुज कुटिल अति घनें, माया-मूर्च्छा में वे सनें ।
(४) यह मेरा दुख चिर थिर नाहीं, अवधि पूर्ण भये यह तो जाही ।।
(५) संजम तजि जो घर में जाय, नीच जननि की सेव कराय ।
(६) तजि मुनि पद जो घर में जाय, वमन किये को सो पी जाय ।।

(७) अहरगइ वासोवसंपया।

(८) दुल्लभे खलु भो गिहोणं धम्मे गिहिवासमज्झे वसंताणं।

(९) आयके से वहाय होइ।

(१०) संकप्पे से वहाय होइ।

(११) सोवक्केसे गिहवासे निरुवक्केसे परियाए।

(१२) बंधे गिहवासे, मोक्खे परियाए।

(१३) सावज्जे गिहवासे, अणवज्जे परियाए।

(१४) बहुसाहारणा गिहोणं कामभोगा।

(१५) पत्तेयं पुण्ण-पावं।

(१६) अणिच्चे खलु भो मणुयाण जीविए कुसग्गजलबिंदुचंचले।

(१७) बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं।

(१८) बहुं च खलु भो, कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं, दुप्पडिक्कंताणं वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता। अट्ठारसम पयं भवइ। भवइ य इत्थ सिलोगो।

संस्कृत— तद्यथा—

(१) हं हो दुःषमायां दुष्प्रजीविनः।

(२) लघुस्वका इत्वरिका कामभोगाः।

(३) भूयश्च सातिबहुला मनुष्याः।

(४) इदं च मे दुःख न चिरकालोपस्थायि भविष्यति।

(५) अवमजनपुरस्कारः।

(६) वान्तस्य प्रत्यापानम्।

(७) अधरगतिवासोपसंपदा।

(८) दुर्लभः खलु भो गृहिणां धर्मो गृहवासमध्ये वसताम्।

(९) आतङ्कस्तस्य वधाय भवति।

(१०) सङ्कल्पस्तस्य वधाय भवति।

(११) सोपक्लेशो गृहवासः, निरुपक्लेशः पर्यायः।

(७) संजम तजि जो घर में जाय, मानों नरक-निवास कराय ।
(८) गृहवासी के दुर्लभ सोय, संजम धरम-फरसना होय ॥
(९) गेही के अनेक आतंक, जिनसे मरने में नहिं संक ।
(१०) गेही के संकल्प अनेक, रहे न जिससे कछु विवेक ॥
(११) क्लेश-युक्त है गेहावास, क्लेश-रहित है मोक्ष निवास ।
(१२) है निवासघर बन्धन रूप, मुनि-पदवी है मोक्ष-स्वरूप ॥
(१३) है सावद्य गेह-आवास, औ निरवद्य साधु-पद-वास ।
(१४) हैं अति तुच्छ जगत के भोग, करैं सदा ही पाप-संजोग ॥
(१५) सबके पुण्य-पाप हैं भिन्न, कोई सुखी, कोई दुख-खिन्न ।
(१६) यह अनित्य जन-जीवन जान, चल कुशाग्र-जल-बिन्दु समान ॥
(१७) मैंने इससे पूर्व अनेक, किये पाप हैं बिना विवेक ।
(१८) हैं विकराल पूर्व कृत पाप, देते जो अति हैं सन्ताप ॥
भोग बिनु मुकती नहिं होय, भोगतें ही मुकती होय ।
तातें तप से कर्म खिपाय, ज्ञानी जन झट शिवपद पाय ॥

अर्थ—वे अठारह स्थान इस प्रकार हैं—

(१) हे आत्मन्, इस दुःषम काल का जीवन ही दुःखमय है ।

(२) इस दुःषम काल में गहस्थ लोगों के काम-भोग तुच्छ और अल्पकालीन हैं ।

(३) और इस दुःषम काल के मनुष्य प्रायः बड़े कपटी और दूसरों को ठगने वाले होते हैं ।

(४) मुझे जो दुःख उत्पन्न हुआ है वह चिरकाल तक नहीं रहेगा ।

(५) संयम को छोड़कर गृहस्थाश्रम में जाने वालों को नीच से भी नीच जनों की सेवा और खुशामद करनी पड़ती है । (यह बात अपमानकारक है ।)

(६) संयम को छोड़कर गृहस्थाश्रम में जानेवालों को वमन अर्थात् त्याग किये हुए पदार्थों का पुनः सेवन करना पड़ता है । (यह घृणित कार्य है ।)

(७) संयम को छोड़कर गृहस्थाश्रम में जाना मानो नरकगति में जाने की तैयारी करना है ।

(८) हे आत्मन्, गृह-वास के मध्य में वसने वाले गृहस्थों के लिए धर्म का पालन करना निश्चय ही बहुत दुर्लभ है । (कठिन है ।)

(९) यह शरीर रोगों का घर है, जो रोग जीव के मरण के लिए कारण हैं ।

(१०) गृहस्थाश्रम में इष्ट-वियोग और अनिष्ट - संयोग से सदा संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं, वे भी जीव के घात के लिए कारण होते हैं

(११) गृहस्थाश्रम क्लेश-युक्त है और संयम-पर्याय क्लेश-रहित है ।

(१२) बन्धो गृहवासः, मोक्षः पर्यायः ।

(१३) सावद्यो गृहवासः अनवद्यः पर्यायः ।

(१४) बहुसाधारणा गृहिणां कामभोगाः ।

(१५) प्रत्येकं पुण्यपापम् ।

(१६) अनित्यं खलु भो, मनुजानां जीवितम् । कुशाग्र जलबिन्दु-चञ्चलम् ।

(१७) बहु च खलु भो पापकर्म प्रकृतम् ।

(१८) पापानां खलु भो, कृतानां कर्मणां पूर्वं दुश्चीर्णानां दुष्प्रतिक्रान्तानां वेदयित्वा मोक्षः, नास्त्यवेदयित्वा, तपसा वा शोषयित्वा । अष्टादशपदं भवति । भवति चात्र श्लोकः ।

(१)

मूल— जया य चयई धम्मं अणज्जो भोगकारणा ।
से तत्थ मुच्छिए बाले आयइं नावबुज्झइ ॥

संस्कृत— यदा च त्यजति धर्मं अनार्यो भोगकारणात् ।
स तत्र मूर्च्छितो बाल आयतिं नावबुध्यते ॥

(२)

मूल— जया ओहाविओ होइ इंदो वा पडिओ छमं ।
सव्वधम्म - परिब्भट्ठो स पच्छा परितप्पइ ॥

संस्कृत— यदाऽवधावितो भवति इन्द्रो वा पतितः क्षमाम् ।
सर्वधर्म - परिभ्रष्टः स पश्चात्परितप्यते ॥

(१२) गृहस्थाश्रम बन्धनरूप है और संयम-पर्याय मोक्षरूप है अर्थात् कर्म-बन्धनों से छुड़ानेवाली है।

(१३) गृहावास सावद्य (पाप)-रूप है और संयम-पर्याय निरवद्य (निष्पाप) है।

(१४) गृहस्थों के काम-भोग बहुत साधारण (तुच्छ) हैं।

(१५) प्रत्येक प्राणी के पुण्य-पाप अलग-अलग हैं, अर्थात् सभी जीव अपने-अपने शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार सुख और दुःख भोगते हैं।

(१६) हे आत्मन्, मनुष्यों का जीवन कुशा के अग्रभाग पर ठहरे हुए जल की बिन्दु के समान अति चंचल है अर्थात् क्षण-भंगुर है।

(१७) हे आत्मन्, निश्चय ही तूने बहुत पापकर्म किये हैं, जिनके उदय से तेरे मन में पवित्र संयम को त्यागने के भाव उत्पन्न हो रहे हैं।

(१८) और हे आत्मन्, खोटे भावों से तथा मिथ्यात्व आदि से उपार्जन किये हुए पूर्वकाल के पाप-कर्मों का फल भोगने के बाद ही उनसे मोक्ष होगा, अर्थात् उनसे छूट सकेगा। कर्मों का फल भोगे बिना मोक्ष संभव नहीं है अथवा तप के द्वारा कर्मों का क्षय करने पर ही मोक्ष होता है। (अतः संयम में स्थिर रहो) यह अठारवां पद है।

इस विषय में श्लोक इस प्रकार हैं--

(१)

चौपाई— जब तजं धर्म कोई अजान, भोगों के कारण गृद्धिवान ।
तब नहीं उसे है कछू ज्ञान, कैसा होगा भावी विधान ।

अर्थ—जब कोई अनार्य (अज्ञानी) पुरुष भोगों के कारण संयम-धर्म को छोड़ता है, तब काम-भोगों में मूर्च्छित (आसक्त) हुआ वह अज्ञानी अपने आगामी काल का जरा भी विचार नहीं करता है कि भविष्य में मुझे इस पतन से कैसे और कौन से दुःख भोगने पड़ेंगे।

(२)

चौपाइ— जिमि च्युत इन्द्र स्वर्ग तें होय, सुमरि पूर्व वैभव दुखि होय ।
तिम संजम च्युत अति जब होय, पश्चात्ताप करै है सोय ।।

अर्थ—जिस प्रकार स्वर्गलोक से च्यवकर पृथ्वी पर उत्पन्न होनेवाला इन्द्र अपनी पूर्व ऋद्धि को याद कर पश्चात्ताप करता है, उसी प्रकार संयम से पतित हुआ साधु सर्व धर्मों से भ्रष्ट हो जाता है और तब वह पीछे पश्चात्ताप करता है।

(३)

मूल— जया य वंदिमो होइ पच्छा होइ अवंदिमो ।
देवया व चुया ठाणा स पच्छा परितप्पइ ॥

संस्कृत— यदा च वन्द्यो भवति पश्चाद् भवत्यवन्द्यः ।
देवतेव च्युता स्थानात् स पश्चात् परितप्यते ॥

(४)

मूल— जया य पूइमो होइ पच्छा होइ अपूइमो ।
राया व रज्जपब्भट्ठो स पच्छा परितप्पइ ॥

संस्कृत— यदा च पूज्यो भवति पश्चाद् भवत्यपूज्यः ।
राजेव राज्यप्रभ्रष्टः स पश्चात् परितप्यते ॥

(५)

मूल— जया य माणिमो होइ पच्छा होइ अमाणिमो ।
सेट्ठिव्व कब्बडे छूढो स पच्छा परितप्पइ ॥

संस्कृत— यदा च मान्यो भवति पश्चाद् भवत्यमान्यः ।
श्रेष्ठीव कर्वटे क्षिप्तः स पश्चात् परितप्यते ॥

(६)

मूल— जया य थेरओ होइ समइक्कंतजोव्वणो ।
मच्छोव्व गलं गिलित्ता स पच्छा परितप्पइ ॥

संस्कृत— यदा च स्थविरो भवति समतिक्रान्तयौवनः ।
मत्स्य इव गलं गिलित्वा स पश्चात् परितप्यते ॥

(३)

चोपाई— **जिमि च्युत देव स्वर्ग तें होय, वन्दनीय रहे नहिं कोय ।**
तिमि संजम-चुत जति जब होय, पश्चात्ताप करै है सोय ।।
संजम जब लों तब लों वंद्य, संजम बिनु वह होय अवंद्य ।
देव थान-चुत जैसे होय, पश्चात्ताप करै है सोय ।।

अर्थ— जब तक साधु संयम में रहता है, तब तक वह सब लोगों का वन्दनीय होता है किन्तु संयम को छोड़ने के पश्चात् वही अवन्दनीय हो जाता है । जैसे अपने स्थान से च्युत देव पश्चात्ताप करता है, उसी प्रकार वह संयम-भ्रष्ट साधु भी पीछे पश्चात्ताप करता है ।

(४)

चोपाई— **संजम जब लों तब लों पूज्य, संजम बिनु वह होय अपूज्य ।**
राज्य-भ्रष्ट राजा ज्यों होय, पश्चात्ताप करै है सोय ।।

अर्थ— जब तक साधु संयम में रहता है तब तक वह लोगों से पूजनीय होता है । किन्तु संयम छोड़ देने के बाद वह अपूजनीय हो जाता है । जैसे राज्य-भ्रष्ट राजा पश्चात्ताप करता है, उसी प्रकार वह साधु संयम से भ्रष्ट हो जाने के बाद पश्चात्ताप करता है ।

(५)

चोपाई - **संजम जब लों तब लों मान्य, संजमु बिनु वह होय अमान्य ।**
गांव पड़ो सेठी जिम रोय, पश्चात्ताप करै है सोय ।।

अर्थ जब तक साधु संयम में रहता है, तब तक सब लोगों का माननीय होता है । किन्तु संयम से भ्रष्ट होने के बाद वह अमाननीय हो जाता है । जिस प्रकार नगर से भ्रष्ट हुआ सेठ छोटे से गांव में रहता हुआ पश्चात्ताप करता है उसी प्रकार संयम से भ्रष्ट हुआ वह साधु भी पीछे पश्चात्ताप करता है ।

(६)

चोपाई **संजम तजि जब बूढ़ा होय, तब निन्दा अति पावै सोय ।**
कांटा निगल मत्स्य ज्यों होय, पश्चात्ताप करै है सोय ।।

अर्थ—जिस प्रकार लोहे के कांटे पर लगे हुए मांस को खाने के लिए मछली उस पर झपटती है, किन्तु गले में कांटा फंस जाने से पश्चात्ताप करती हुई मृत्यु को प्राप्त होती है, उसी प्रकार संयम से भ्रष्ट हुआ साधु यौवन अवस्था के बीत जाने पर जब वृद्धावस्था को प्राप्त होता है तब वह पश्चात्ताप करता है ।

(७)

मूल— जया य कुकुडंवस्स कुतत्तीहिं विहम्मइ ।
हत्थी व बंधणे बद्धो स पच्छा परितप्पइ ॥

संस्कृत— यदा च कुकुट्ुम्बस्य कुतप्तिभिर्विहन्यते ।
हस्तीव बन्धने बद्धः स पश्चात् परितप्यते ॥

(८)

मूल— पुत्त-दारपरिकिण्णो मोहसंताणसंतओ ।
पंकोसन्नो जहा नागो स पच्छा परितप्पइ ॥

संस्कृत— पुत्र-दारपरिकीर्णो मोहसन्तानसन्ततः ।
पङ्कावसन्नो यथा नागः स पश्चात् परितप्यते ॥

(९)

मूल— अज्ज आहं गणी हुंतो भावियप्पा बहुस्सुओ ।
जइ हं रमंतो परियाए सामण्णे जिणदेसिए ॥

संस्कृत— अद्य तावदहं गणी अभविष्यं भावितात्मा बहुश्रुतः ।
यद्यहमरंस्ये पर्याये श्रामण्ये जिनदेशिते ॥

(१०)

मूल— देवलोगसमाणो उ परियाओ महेसिणं ।
रयाणं अरयाण तु महानिरयसारिसो ॥

संस्कृत— देवलोकसमानस्तु पर्यायो महर्षिणाम् ।
रतानामरतानां च महानरकसदृशः ॥

(११)

मूल— अमरोवमं जाणिय सोक्खमुत्तमं
रयाण परियाए तहारयाणं ।
निरवोपमं जाणिय दुक्खमुत्तमं
रमेज्ज तम्हा परियाय पंडिए ॥

(७)

चौपाई— **संजम तजि कुटुम्ब में जाय, धन बिन चिंतित बहुत रहाय ।**
बंधन-बद्ध हस्ति-सा होय, पश्चात्ताप करै है सोय ।।

अर्थ—विषयभोगों के मोह-जाल में फंसकर संयम से पतित होने वाले साधु को जब खोटे कुटुम्ब की प्राप्ति होती है, तब वह आर्तध्यान करता हुआ अनेक प्रकार की चिन्ताओं से उसी प्रकार दुखी होकर पश्चात्ताप करता है, जिस प्रकार कि बन्धन में बंधा हुआ हाथी दुखी होकर पश्चात्ताप करता है ।

(८)

चौपाई— **पुत्र-नारि के मोह-वशाय, चिन्तित पीड़ित नित्य रहाय ।**
पंक-पतित गज के सम होय, पश्चात्ताप करै है सोय ।।

अर्थ—पुत्र-स्त्री आदि से घिरा हुआ और मोह-पाश में फंसा हुआ वह संयम-भ्रष्ट साधु कीचड़ में फंसे हुए हाथी के समान पीछे बार-बार पश्चात्ताप करता है।

(९)

चौपाई— **यदि न साधुपद तजता तबै, होता बहुश्रुत ज्ञानी अबै ।**
जिन-उपदिष्ट श्रमण-पर्याय, पालन कर आचार्य कहाय ।।

अर्थ—संयम से पतित हुआ साधु इस प्रकार से विचार करता है कि यदि मैं साधुपन न छोड़ता और भावितात्मा होकर (आत्म-भावना कर) जिनेश्वर देव द्वारा उपदिष्ट श्रमणपर्याय का पालन करता रहता तो आज बहुश्रुत ज्ञाता होता और आज मैं आचार्य होता ।

(१०)

चौपाई— **जो महर्षि संजमरत रहें, देव-लोक-सम सुखिया रहें ।**
संजम-विरत रहें जो लोय, वे नारिक-सम दुखिया होय ।।

अर्थ—जो महर्षि संयम में रत रहते हैं, उनके लिए संयम-पर्याय देवलोक के सुखों के समान आनन्द-दायक है । किन्तु संयम में अरति (अरुचि) रखनेवालों को वही संयम-पर्याय नरक के समान दुखदायी प्रतीत होती है ।

(११)

चौपाई— **संयम-रत सुर-सम सुख पावैं, अरती नरकोपम दुख पावैं ।**
यह निश्चय कर संजम-लीन, रहते हैं पंडित परवीन ।।

संस्कृत— अमरोपमं ज्ञात्वा सौख्यमुत्तमं
रतानां पर्याये तथाऽरतानाम् ।
निरयोपमं ज्ञात्वा दुःखमुत्तमं
रमेत तस्मात्पर्याये पण्डितः ॥

(१२)

मूल— धम्माउ भट्ठं सिरिओववेयं
जन्नग्गि विज्झायमिवप्पतेयं ।
हीलंति णं दुव्विहियं कुसीलं
दाढुद्धियं घोरविसं व नागं ॥

संस्कृत— धर्माद् भ्रष्टं श्रियो व्यपेतं
यज्ञाग्नि विध्यातमिवाल्पतेजसम् ।
हीलयन्ति एनं दुर्विहितं कुशीलाः
उद्धृतदंष्ट्रं घोर विषमिव नागम् ॥

(१३)

मूल— इहेव धम्मो अयसो अकित्ती
दुन्नामधेज्जं च पिहुज्जणम्मि ।
चुयस्स धम्माउ अहम्मसेविणो
संभिन्नवित्तस्स य हेट्ठओ गई ॥

संस्कृत— इहैवाधर्मोऽयशोऽकीर्त्ति
दुर्नामधेयं च पृथग्जने ।
च्युतस्य धर्मादधर्मसेविनः
संभिन्नवृत्तस्य चाधस्ताद् गतिः ॥

(१४)

मूल— भुंजित्तु भोगाइं पसज्झ चेयसा
तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं ।
गइं च गच्छे अणभिज्झियं दुहं
बोही य से नो सुलहा पुणो पुणो ॥

अर्थ—संयम में रत रहने वाले महर्षियों के लिए संयम-पर्याय देवलोक के समान उत्तम सुखदायक है, ऐसा जानकर तथा संयम में अरुचि रखने वालों को वही संयम नरक के घोर दुःखों के समान दुःखदायी प्रतीत होता है, ऐसा जानकर बुद्धिमान् साधु को संयममार्ग में ही रमण करना चाहिए।

(१२)

चौपाई— यज्ञ अगनि जब ही बुझ जाय, कोई न उसको नमन कराय :
डाढें निकल नाग की जांय, तब कोई भी भय ना खाय ॥
त्यों तप-तेज-रहित मुनि होय, जब संजम-च्युत होवे सोय ।
पापी जन भी निन्दा करें, सबहि ठौर अपमान कु धरें ॥

अर्थ— यज्ञ की अग्नि जब तक जलती है तब तक उसे पूज्य समझकर अग्निहोत्री ब्राह्मण उसे प्रणाम करता है, किन्तु जब वह बुझकर तेज-रहित हो जाती है, तब उसे कोई नमस्कार नहीं करता, प्रत्युत उसकी राख को उठाकर बाहर फेंक देते हैं। तथा जब तक सांप के मुख में विष-युक्त दाढ़ें रहती हैं, तब तक सब लोग उससे डरते हैं किन्तु दाढ़ें निकल जाने पर कोई उससे नहीं डरता। इसी प्रकार साधु जब तक संयम-स्थिर एवं तप के तेज से संयुक्त रहता है, तब तक सब उसका विनय-सम्मान करते हैं। किन्तु जब वह संयम से भ्रष्ट होकर अयोग्य आचरण करने लगता है, तब हीनाचारी लोग भी उसका तिरस्कार करने लगते हैं।

(१३)

चौपाई— संजमच्युत की निन्दा होय, अपयश और अकीरति होय ।
हो बदनामी इस ही लोक, दुरगति पावै सो परलोक ॥

अर्थ—संयमधर्म से पतित, अधर्म का सेवन करने वाला, ग्रहण किये हुए व्रतों को खंडित करने वाला साधु इस लोक में अधर्म, अपयश और अपकीर्ति को प्राप्त होता है और साधारण लोगों में भी बदनामी एवं तिरस्कार को प्राप्त होता है तथा परलोक में नरकादि नीच गतियों में उत्पन्न होकर असह्य दुःख भोगता है।

(१४)

चौपाई— संजम-पतित भोग को भोग, मूर्च्छा-वश करि पाप-संजोग ।
दुरगति में दुख भोगै जाय, समकित-रतन न फेर लहाय ॥

अर्थ—तीव्र लालसा एवं गृद्धिभावपूर्वक भोगों को भोगकर तथा बहुत से असंयम-पूर्ण निन्दनीय कार्यों का आचरण करके जब वह संयम-भ्रष्ट साधु कालधर्म

संस्कृत— भुक्त्वा भोगान् प्रसह्यचेतसा
तथाविधं कृत्वाऽसंयमं बहुम् ।
गतिं च गच्छेदनभिध्यातां दुःखां
बोधिश्च तस्य नो सुलभा पुनः पुनः ॥

(१५)

मूल— **इमस्स ता नेरइयस्स जंतुणो**
दुहोवणीयस्स किलेसवत्तिणो ।
पलिओवमं झिज्जइ सागरोवमं
किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं ॥

संस्कृत— अस्य तावन्नारकस्य जन्तोः
उपनीतदुःखस्य क्लेशवृत्तेः ।
पल्योमम क्षीयते सागरोपमं
किमङ्ग पुनर्ममेदं मनोदुःखम् ॥

(१६)

मूल— **न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सई**
असासया भोग पिवास जंतुणो ।
न चे सरीरेण इमेण वेस्सई
अविस्सई जीवियपज्जवेण मे ॥

संस्कृत— न मे चिरं दुःखमिदं भविष्यति
अशाश्वती भोग पिपासा जन्तोः ।
न चेच्छरीरेणानेनापैष्यति
अपैष्यति जीवित-पर्यवेण मे ॥

(१७)

मूल— **जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ**
चएज्ज देहं न उ धम्मसासणं ।
तं तारिसं नो पयलेंति इंदिया
उवेंतवाया व सुदंसणं गिरिं ॥

को प्राप्त होता है, तब वह अनभिलषित नरकादि गतियों में जाकर अनेक प्रकार के दु:खों को भोगता है और फिर उसे अनेक भवों में भी बोधि (सम्यक्त्व एवं जिनधर्म) की प्राप्ति होना सुलभ नहीं है।

(१५)

चौपाई— तातें चलित-चित्त मुनि जोय, सोच करहु निज मन में सोय।
पल्योपम वा सागर-मान, सहे नरक में दु:ख महान॥
तो यह मानव-जीवन केता, क्यों मनमें विकलप बहु लेता।
यों विचार मन-चिन्ता हरो, संजम-रत रह निजहित करो॥

अर्थ—संयम में आने वाले आकस्मिक कष्टों से घबराकर संयम छोड़ने की इच्छा करने वाले साधु को इस प्रकार विचार करना चाहिए कि नरकों में अनेक बार उत्पन्न होकर मेरे इस जीव ने अनेक क्लेश एवं असह्य दु:ख सहन किये हैं और वहां की पल्योपम और सागरोपम जैसी दु:खपूर्ण लम्बी आयु को भी समाप्त कर वहां से यहां निकल आया हूं तो फिर मेरा यह विषयाभिलाषरूप मानसिक दु:ख तो है ही क्या ? नरकों के महा दु:खों में और इस थोड़े से मानसिक दु:खों में तो महान अन्तर है। ऐसा विचार कर साधु को समभावपूर्वक वर्तमान में प्राप्त कष्ट सहन करना ही उचित है।

(१६)

चौपाई— नहिं यह दुख चिरकाल रहाय, भोग-लालसा भी मिट जाय।
यदि मैं संजम में थिर रहूं, तो अनन्त भव-दु:ख न सहूं॥

अर्थ—यह मेरा दु:ख चिरकाल नहीं रहेगा। जीवों की भोग-पिपासा अशाश्वत है। यदि वह इस शरीर के रहते हुए नहीं मिटी तो मेरे जीवन की समाप्ति के समय तो अवश्य ही मिट जायगी। (अत: आज काम-भोगों के प्रलोभन से या तज्जनित वेदना से घबड़ाकर संयमधर्म को नहीं छोड़ना चाहिए।)

(१७)

चौपाई— जिसका आतम अतिदृढ़ होय, देह तजै पर धर्म न खोय।
इंद्रिय उसे न विचलित करें, आंधी मेरु न डगमग करे॥

अर्थ—जिसकी आत्मा इस प्रकार निश्चल (दृढ़ संकल्पयुक्त) होती है कि 'देह को त्याग देना चाहिए, पर धर्म-शासन को नहीं छोड़ना चाहिए', उस दृढ़प्रतिज्ञ

संस्कृत— यस्यैवमात्मा तु भवेन्निश्चितः
त्यजेद्देहं न खलु धर्मशासनम् ।
तं तादृशं न प्रचालयन्तीन्द्रियाणि
उपयद् वाता इव सुदर्शनं गिरिम् ॥

(१८)

मूल— इच्चेव संपस्सिय बुद्धिमं नरो
आयं उवायं विविहं वियाणिया ।
काएण वाया अदुमाणसेणं
तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमहिट्ठिजासि ॥

— त्ति बेमि

संस्कृत— इत्येवं संदृश्य बुद्धिमान् नरः
आयमुपायं विविधं विज्ञाय ।
कायेन वाचाथ मानसेन
त्रिगुप्तिगुप्तो जिनवचनमधितिष्ठेत् ॥

—इति ब्रवीमि

पढमा रइवक्का चूलिया सम्मत्ते ।



साधु को ये इन्द्रियां उसी प्रकार विचलित नहीं कर सकती हैं, जिस प्रकार कि वेग-वाली आंधी सुदर्शनमेरु को विचलित नहीं कर सकती है।

(१२)

चौपाई— तातें ज्ञानी एम विचार, लाभ-अलाभ हिये अवधार ।
मन वच तन की गुपति करेय, जिनवानी का आश्रय लेय ॥
निज आतम में अब थिर होहु, संजम तें मत भूल चलेहु ।
मानुष भव को लाहा लेहु, अविचल शिवपद शीघ्र ही लेहु ॥

अर्थ—इस प्रकार बुद्धिमान मनुष्य सम्यक् पर्यालोचन कर तथा विविध प्रकार के लाभ और उनके साधनों को जानकर मन-वच-काय गुप्ति से गुप्त (सुरक्षित) होकर जिन वचनों का आश्रय लेवे।

ऐसा मैं कहता हूं।

प्रथम रतिवाक्या चूलिका समाप्त।

बिइया विवित्तचरिया चूलिया

(१)

मूल— चूलियं तु पवक्खामि सुयं केवलिभासियं ।
जं सुणित्तु सपुन्नाणं धम्मे उप्पज्जए मई ॥

संस्कृत— चूलिकां तु प्रवक्ष्यामि श्रुतां केवलिभाषिताम् ।
यां श्रुत्वा सपुण्यानां धर्मे उत्पद्यते मतिः ॥

(२)

मूल— अणुसोय पट्ठिए बहुजणम्मि
पडिसोयलद्ध लक्खेणं ।
पडिसोयमेव अप्पा
दायव्वो होउ कामेणं ॥

संस्कृत— अनुश्रोत. प्रस्थिते बहु जने प्रतिस्रोतो लब्धलक्ष्येण ।
प्रतिस्रोत एवात्मा दातव्यो भवितुकामेन ॥

(३)

मूल— अणुसोय सुहो लोगो
पडिसोओ आसवो सुविहियाणं ।
अणुसोओ संसारो
पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥

संस्कृत— अनुस्रोतः सुखो लोकः प्रतिस्रोतः आस्रवः सुविहितानाम् ।
अनुस्रोतः संसारः प्रतिस्रोतस्तस्योत्तारः ॥

द्वितीय विविक्तचर्या चूलिका

(१)

चौपाई— **अब मैं कहूं चूलिका सार, जो जिन-भाषित ज्ञान-भंडार ।**
सुन कर जिसे पुण्य-धर जीव, धर्म में धारैं मती अतीव ।।

अर्थ—मैं केवली जिनदेव भाषित और आचार्यों से सुनी चूलिका को कहूंगा, जिसे सुनकर पुण्यवान् जीवों की धर्म में बुद्धि उत्पन्न होती है ।

(२)

चौपाई— **बहु जन विषय-भोग-अनुकूल, गमन करें लक्ष्य-प्रतिकूल ।**
जब जन विषय-भोग-प्रतिकूल, गमन करें पावें भव-कूल ।।

अर्थ—अधिकतर लोग स्रोत के (भोग-मार्ग के) अनुकूल प्रस्थान (गमन) कर रहे हैं किन्तु जो मुक्त होना चाहता है जिसे प्रतिस्रोत (विषय-भोग के प्रतिकूल) मार्ग में गमन करने का लक्ष्य प्राप्त है, जो विषय-भोगों से विरक्त हो संयम की आराधना करना चाहता है, उसे अपनी आत्मा को स्रोत के प्रतिकूल ले जाना चाहिए अर्थात् विषय-भोगों में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए ।

(३)

चौपाई— **सुखी होंय जन भोग सुभोग, सुखी होंय ज्ञानी तप-योग ।**
भोग-योग बाढ़े संसार, तपोयोग से हो भव-पार ।।

अर्थ—जन-साधारण स्रोत के अनुकूल चलने में सुख मानते हैं । किन्तु जो सुविहित साधु हैं वे तप साधना रूप प्रतिस्रोत चलने में सुखी होते हैं । आस्रव (इन्द्रिय-विजय) प्रतिस्रोत होता है । अनुस्रोत संसार है (जन्म-मरण की परम्परा है) और प्रतिस्रोत उसका उतार है अर्थात् जन्म-मरणरूप संसार से पार होना है ।

(४)

मूल— तम्हा आयार परक्कमेण
संवरसमाहिबहुलेणं ।
चरिया गुणा य नियमा य
होंति साहूण दट्ठव्वा ॥

संस्कृत— तस्मादाचारपराक्रमेण संवरसमाधिबहुलेन ।
चर्या गुणाश्च नियमाश्च भवन्ति साधूनां द्रष्टव्याः ॥

(५)

मूल— अणिएयवासो समुयाणचरिया
अन्नायउंछं पइरिक्कया य ।
अप्पोवही कलह विवज्जणा य
विहारचरिया इसिणं पसत्था ॥

संस्कृत— अनिकेतवासः समुदानचर्या
अज्ञातोञ्छं प्रतिरिक्तता च ।
अल्पोपधिः कलहविवर्जना च
विहारचर्या ऋषीणां प्रशस्ता ॥

(६)

मूल— आइण्ण ओमाण विवज्जणा य
ओसन्न दिट्ठाहडभत्तपाणे ।
संसट्ठकप्पेण चरेज्ज भिक्खू
तज्जायसंसट्ठ जई जएज्जा ॥

संस्कृत— आकीर्णावमानविवर्जना चोत्सन्नदृष्टाहृतभक्तपानम् ।
संसृष्ट कल्पेन चरेद् भिक्षुस्तज्जातसंसृष्टे यतिर्यतेत ॥

(४)

चौपाई— जो आचार पराक्रमवत, संवर साध समाधि लगंत ।
पुनि गुण-नियमों में रत रहैं, परिषह दुख वे सब ही सहैं ॥

अर्थ—इसलिए व्रताचरण में पराक्रम करने वाले, संवर में सदा समाधि रखने वाले साधुओं को मुनि-चर्या के गुणों और यम-नियमों की ओर देखना चाहिए ।

(५)

चौपाई— घर तजि अनियत-वास कराय, बहु अजान घर भिक्षा लाय ।
उपधि अल्प, एकान्त-निवास, कलह छोड़ विचरै ऋषि खास ॥

अर्थ—अनिकेत-निवास (गृह-वास का त्याग कर अनियत घर में रहना), समुदानचर्या (अनेक कुलों से भिक्षा लेना), अज्ञात कुलों से भिक्षा लेना, एकान्त-वास करना, उपधि (वस्त्र-पात्र आदि) का अल्प रखना और कलह का त्याग करना, यह विहारचर्या (जीवन-प्रवृत्ति) ऋषियों के लिए प्रशस्त है ।

(६)

चौपाई— पंक्ति-भोज का अशन न लेय, आकीरण अवमान तजेय ।
जो दाता दे सो ही लेय, असंसृष्ट कर-पात्र तजेय ॥

अर्थ—अकीर्ण (जहां बहुत भीड़-भाड़ हो ऐसा) भोजन, अवमान (जहां गिनती से अधिक खाने वालों की उपस्थिति हो, अर्थात् भोज्यसामग्री कम हो और खाने वाले अधिक हों, ऐसा) भोजन का विवर्जन करे, दृष्टस्थान से लाये गये भक्त-पान का ग्रहण साधुओं के लिए श्रेष्ठ है, संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेवे । अर्थात् जो हाथ या पात्र दाल आदि से लिप्त हो, उसी हाथ या पात्र से आहार लेवे । दाता जो वस्तु दे रहा है, उसी से लिप्त हाथ या पात्र से भिक्षा लेने का साधु यत्न करे ।

(७)

मूल— अमज्जमंसासि अमच्छरीया
अभिक्खणं निव्विगइं गया य ।
अभिक्खणं काउस्सग्गकारी
सज्झायजोगे पयओ हवेज्जा ॥

संस्कृत— अमद्यमांसाशी अमत्सरी च अभीक्ष्णं निर्विकृतिं गतश्च ।
अभीक्ष्णं कायोत्सर्गकारी स्वाध्याययोगे प्रयतो भवेत् ॥

(८)

मूल— न पडिन्नवेज्जा सयणासणाइं
सेज्जं निसेज्जं तह भत्तपाणं ।
गामे कुले वा नगरे व देसे
ममत्तभावं न कहिं पि कुज्जा ॥

संस्कृत— न प्रतिज्ञापयेच्छयनासनानि
शय्यां निषद्यां तथा भक्तपानम् ॥
ग्रामे कुले वा नगरे वा देशे
ममत्वभावं न क्वचित्कुर्यात् ॥

(९)

मूल— गिहिणो वेयावडियं न कुज्जा
अभिवायणं वंदण पूयणं च ।
असंकिलिट्ठेहिं समं वसेज्जा
मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी ॥

संस्कृत— गृहिणो वैयावृत्यं न कुर्यादभिवादनं वन्दनं पूजनं च ।
असंक्लिष्टैः समं वसेन्मुनिश्चारित्रस्य यतो न हानिः ॥

(१०)

मूल— न वा लभेज्जा निउणं सहायं
गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एक्को वि पावाइं विवज्जयंतो
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥

(७)

चौपाई— मद्य-मांस-त्यागी मुनिराय, विकृति-रहित भोजन चित लाय ।
पुनि पुनि कायोत्सर्ग करेय, ध्यान, शास्त्र-स्वाध्याय करेय ॥

अर्थ--मद्य-मांस का अभोजी साधु बार-बार विकृतियों (दूध, दही आदि) को न खाये, मात्सर्य-रहित रहे, बार-बार कायोत्सर्ग करे तथा स्वाध्याय और ध्यान-योग में प्रयत्नशील रहे ।

(८)

चौपाई— विचरत साधु न शपथ कराय, गृहिजन को ऐसा बतलाय ।
आसन-शयन न पर को दीजे, जब लौटूं तब मुझको दीजे ॥
ग्राम नगर कुल देश-मंझार, ममता भाव न रखे लगार ।
निःस्पृह भाव रख करे विहार, वीतरागता हिय में धार ॥

अर्थ— साधु विहार करते समय गृहस्थ को ऐसी प्रतिज्ञा न दिलावे कि यह शयन, आसय, उपाश्रम आदि जब मैं लौटकर आऊं, तब मुझे ही देना (और को मत देना) । इसी प्रकार भक्तपान भी मुझे ही देना, ऐसी प्रतिज्ञा भी न करावे । ग्राम, कुल, नगर या देश में—कहीं भी ममता-भाव न रखे ।

(९)

चौपाई— गेही का अभिवादन वन्दन, वैयावृत्य करे ना पूजन ।
क्लेश-रहित सन्तों के संग, विचरै ज्यों व्रत रहे अभंग ॥

अर्थ—साधु गृहस्थ का वैयावृत्य न करे, उसका अभिवादन, (स्वागत), वन्दन और पूजन न करे । मुनि को सदा संक्लेश-रहित साधुओं के साथ रहना चाहिए, जिससे चारित्र की हानि न होवे ।

(१०)

चौपाई— बहुगुणि, सम-गुणि नांहि मिलाय, तो एकाकी साधु रहाय ।
विचरै पापों से रहि दूर, संयम-रत रहकर भर-पूर ॥

अर्थ—यदि कदाचित अपने से अधिक गुणी अथवा अपने समान गुणवाल

संस्कृत— न वा लभेत निपुणं सहायं गुणाधिकं वा गुणतः समं वा ।
एकोऽपि पापानि विवर्जयन् विहरेत्कामेष्वसज्जन् ॥

(११)

मूल— संवच्छरं चावि परं पमाणं
बीयं च वासं न तहिं वसेज्जा ।
सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू
सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ॥

संस्कृत — संवत्सरं वापि परं प्रमाणं द्वितीयं च वर्षं न तत्र वसेत् ।
सूत्रस्य मार्गेण चरेद् भिक्षुः सूत्रस्यार्थो यथा ज्ञापयति ॥

(१२)

मूल— जो पुव्वरत्तावररत्तकाले
संपिक्खई अप्पगमप्पएणं ।
किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं
किं सक्कणिज्जं न समायरामि ॥

संस्कृत— यः पूर्वरात्रापररात्रकाले
संप्रेक्षते आत्मकमात्मकेन ।
किं मया कृतं किं च मे कृत्यशेषं
किं शकनीयं न समाचरामि ॥

(१३)

मूल— किं मे परो पासइ किं व अप्पा
किं वाहं खलियं न विवज्जयामि ।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो
अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ॥

संस्कृत— किं मम परः पश्यति किं वात्मा
किं वाहं स्खलितं विवर्जयामि ।
इत्येवं सम्यगनुपश्यन्
अनागतं नो प्रतिबन्धं कुर्यात् ॥

निपुण साथी न मिले तो पापकर्मों का परिहार करता हुआ और काम-भोगों से अनासक्त रहता हुआ साधु अकेला ही विहार करे।

(११)

चौपाई— चौमासा इक पूरा होय, मास अधिक जहं वासा होय ।
दोय मास अन्तर बिन करे, चौमासा न तहां पुनि करे ।।

अर्थ—जिन गांव या नगर में मुनि वर्षाकाल में चार मास और शेष काल में एक मास रह चुका हो, दो चातुर्मास और दो मास का अन्तर किये बिना मुनि को नहीं रहना चाहिए। साधु सूत्र (आगम) मार्ग से चले और सूत्र का अर्थ जैसी आज्ञा दे, उसी प्रकार से चले।

(१२)

चौपाई— पूरब और अपर निशिकाल, आत्मालोचन करे संभाल ।
कीना क्या, करना क्या शेष, रहा प्रमाद-वश मुझ से शेष ।।

अर्थ—जो साधु रात्रि के पहिले और पिछले पहर में अपने आप अपना आलोचन करता है कि मैंने क्या किया और क्या कार्य करना शेष है। वह कौन-सा कार्य है, जिसे मैं कर सकता हूं, पर प्रमाद-वश नहीं कर रहा हूं।

(१३)

चौपाई— लखें अन्य क्या मेरी भूल, देखूं या अपनी ही भूल ।
कौन चूक मैं तजी न अबलौं, यों विचार अब तो मैं संभलौं ।।
आगे का निदान नहिं करे, वर्तमान ममता परिहरे ।
निन्दा गहरा मुनि नित करे, शान्तभाव रख नित ही विचरे ।।

अर्थ—क्या मेरे प्रमाद को कोई देखता है, अथवा अपनी भूल को मैं स्वयं देख लेता हूं। वह कौनसी चूक है, जिसे मैं नहीं छोड़ रहा हूं? इस प्रकार भली-भांति से आत्म-निरीक्षण करता हुआ साधु अनागत का प्रतिबन्ध न करे, अर्थात् न असंयम में बंधे और न आगे के लिए निदान करे।

(१४)

—मूल जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं
काएण वाया अदु माणसेणं ।
तत्थेव धीरो पडिसाहरेज्जा
आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं ॥

संस्कृत— यत्रैव पश्येत्क्वचिद्दुष्प्रयुक्तं कायेन वाचाऽथ मानसेन ।
तत्रव धीरः प्रतिसंहरेदाकीर्णकः क्षिप्रमिव खलिनम् ॥

(१५)

मूल — जस्सेरिया जोग जिइंदियस्स
धिइमओ सप्पुरिसस्स निच्चं ।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी
सो जीवइ संजमजीविएणं ॥

संस्कृत— यस्येदृशा योगा जितेन्द्रियस्स
धृतिमतः सत्पुरुषस्य नित्यम् ।
तमाहुर्लोके प्रतिबुद्धजीविनं
स जीवति संयमजीवितेन ॥

(१६)

मूल— अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो
सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ ॥

—त्ति बे.

संस्कृत— आत्मा खलु सततं रक्षितव्यः सर्वेन्द्रियैः सुसमाहितैः ।
अरक्षितो जातिपथ मुपैति सुरक्षितः सर्वदुःखेभ्यो मुच्यते ॥

—इति ब्रवीमि

विइया विवित्त चरिया चूलिका सम्मत्ता ।

(१४)

चौपाई — मन वच काय कुवृत्ति लखेय, तुरत साधु मन में संभलेय ।
खींचत जाति-अश्व-लगाम, सावधान चाले सुललाम ॥

अर्थ—जहां कहीं भी मन, वचन और काया को दुष्प्रवृत्त होता हुआ देखे, तो धीर वीर साधु को तुरन्त वहीं संभल जाना चाहिए । जैसे कि उत्तम जाति का घोड़ा लगाम को खींचते ही संभल जाता है ।

(१५)

चौपाई— जिसके ऐसा योग रहाय, सावधान सो मुनि कहलाय ।
संयम से जीवित वह रहे, धीर जितेन्द्रिय उसको कहें ॥

अर्थ—जिस जितेन्द्रिय, धैर्यवान् सत्पुरुष की योग-साधना इस प्रकार की होती है, वह लोक में प्रतिबुद्धिजीवी कहा जाता है और वही संयमी जीवन के साथ जीता है ।

(१६)

चौपाई— होय जितेन्द्रिय रक्षा करे, निज आतम में तन मन धरे ।
जन्म-मरण पावै असुरक्ष, दुखसे छूटै सदा सुरक्ष ॥
यातें मुनि, संयम-रत रहो, विषय-भोगतें दूरहि रहो ।
जिससे होवे बेड़ा पार, पहुंचो शिव सुख के आगार ॥

अर्थ—अतएव इन्द्रियों को अपने वश में करके साधु को अपने आत्मा की सदा रक्षा करनी चाहिए । क्योंकि अरक्षित आत्मा जाति-पथ (जन्म-मरण के मार्ग) को प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त हो जाता है ।

ऐसा मैं कहता हूं ।

द्वितीय विविक्तचर्या चूलिका समाप्त ।

उपसहार

चौपाई— स्वामि सुधर्मा गति जे अहई, निज सुशिष्य जंबू को कहई ।
जो कछु सुन्यो वीर जिन पाहीं, सो हौं कहौं और कछु नाहीं ।।

शिखरिणी

अहिंसा सिद्धान्तं यदि सुजन कान्तं भवि-हितं,
गुणानामागारं सुखद मतिसारं हृदि धृतम् ।
मुनीनामाचारं विमलमतिचारु सुचरितं,
ततो दोषातीतं सुगतिरमणी तं वरयति ।।

ग्रन्थ-परिचय

दोहा — दशवैकालिक सूत्र में, आख्यो मुनि-आचार ।
भांति-भांति भासित कियो, संजति को व्यवहार ।।१।।

'सज्जंभव' गनिवर सुघर, निज सुत 'मनिक' निहार ।
अलप आयु षट्मास लखि, आगम निरखि अपार ।।२।।

सूत्र ग्रन्थ को मथि करि, संत - पंथ - नवनीत ।
काढ़ि पढ़ायो सुतनि कों, रह्यो सुगहि मुनि-रीत ।।३।।

मन ही राख्यो भाव सब, पिता पूत को प्यार ।
जब वा सुतने तनु तज्यो, बही नयन - जल - धार ।।४।।

तब सब साधुनि ने कह्यो, 'नाथ, कहा यह बात' ?
तब गनिनें परगट कही, हुतो यहै तनु - जात ।।५।।

तब साधुनि विनती करी, 'नाथ, कह्यो कि न आप ।
रखते उनको लाड़ से, यह हम-मन अति ताप' ।।६।।

तब गनिवर ऐसे कही, 'हम जो करत प्रकास ।
होतो तुमरे प्यार तें, वाको काज विनास' ।।७।।

बिनु संजम सेवन किये, बिन तप कीने तात ?
क्यों कटते वाके करम, नेक विचारहु बात' ॥८॥

तब सबने ऐसे कही—'धन्य धन्य - प्रभु आप ॥
भव-भय - भंजन - हार हौ, आपहि सांचे बाप ॥९॥

ऐसे दया - निधान - कृत, यह आगम को सार ।
संत पुरुष धारन करत, तुरत लहत भव-पार ॥१०॥

संजति के व्यवहार को है यह उत्तम ग्रंथ ।
पै गृहस्थ हू जो गहै, सहज वहै सत-पंथ ॥११॥

हिंसादिक दुरगुन तजै, भजै सकल गुन सार ।
सरल विनय-संजुत रहै, लहै अवस भव-पार ॥१२॥

भाषा पद्यकार का निवेदन

सो प्राकृत में पाठ है, टीका टबा अनेक ।
ब्रज बानी के पदनि में, अब लग हुतो न एक ॥१॥

श्रीयुत मिश्रीमल्ल मुनि, मोसों आयसु दीन ।
तब मैं आगम-वचन गहि, पद-रचना यह कीन ॥२॥

कहुंक पाठ अनुसार है, भली भांति अनुवाद ।
कहूं कछुक विस्तार करि, सहज गह्यो श्रुत-स्वाद ॥३॥

सार भाव सरवत गह्यो, विसम बह्यौ कछु नाहिं ।
चक होय सो करि कृपा, साधु सुधारहिं ताहि ॥४॥

उपाध्याय श्री आत्म मुनि-तिलक-भाष्य कृत एक ।
ताके अधिक अधार सौं, विरच्यो सहित विवेक ॥५॥

गगन नंद विधि इंदु वर, दीपावलि दिन पाय ।
जोध नगर में यह बन्यो, मारवाड़ के मांय ॥६॥

ग्राम कुचेरा-वासि हुं माथुर अमृतलाल ।
'भाषा - भूषण' तिन करी, छंदोबद्ध रसाल ॥

दशवैकालिक के मूल पदों व हिन्दी पद्यों का विवरण

अध्ययन	नाम अध्ययन	पद्य संख्या	अध्ययन	नाम अध्ययन	पद्य संख्या
१	द्रुमपुष्पिका	५	९	विनयसमाधि प्रथम उद्देशक	१७
२	श्रामण्यपूर्वक	११		,, द्वितीय उद्देशक	२३
३	क्षुल्लकाचार कथा	१५		,, तृतीय उद्देशक	१५
४	षड्जीवनिका { गद्य सू० / पद्य सू०	२३ / २८		,, चतुर्थ उद्देशक { गद्य सू० / पद्य सू०	७ / ७
५	पिण्डैषणा प्रथम उद्देशक	१००	१०	स भिक्षु	२१
,,	,, द्वितीय उद्देशक	५०		प्रथम रतिवाक्या चूलिका	
६	महाचार कथा	६८		{ गद्य सू०	१८
७	वाक्य-शुद्धि	५७		{ पद्य	१८
८	आचार-प्रणिधि	६३		द्वितीय विविक्तचर्या	१६

कुल—५५७ पद्य

हिन्दी पद्य

क्रम	छन्द नाम	संख्या	क्रम	छन्द नाम	संख्या
१	दोहा	१८२	१५	त्रोटक	३
२	चौपाई	२३५	१६	आर्या	१
३	कवित्त	४७	१७	मालिनी	२
४	सोरठा	३	१८	उपेन्द्रवज्रा	१
५	सवैया	७	१९	मोतियादाम	४
६	छप्पय	१	२०	वेताल	१३
७	नाराच	६	२१	हरिगीतिका	[illegible]
८	पद्धरी		२२	गोपिकागीतिवत्	
९	तोमर	२	२३	रोला	
१०	अरिल्ल	१२	२४	वसन्ततिलका	
११	द्रुतविलम्बित	५	२५	लावणीवत्	
१२	त्रिभंगी	१	२६	जिहितें	१
१३	शिखरिणी	१	२७	अन्य	१
१४	वियोगिनीवत्	५			

कुल—५१८ पद्य

परिशिष्ट

सुभाषित

पारिभाषिक शब्द-कोश

दशवैकालिक के सुभाषित

१	धम्मो मंगलमुक्किट्ठं ।	१।१
२	अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाइत्ति वुच्चइ ।	२।२
३	साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चइ ।	२।३
४	पढमं नाणं तओ दया ।	४।१०
५	सोच्चा जाणइ कल्लाणं सोच्चा जाणइ पावगं ।	४।११
६	दुल्लहा हु मुहादाई मुहाजीवी वि दुल्लहा ।	५।१।१००
७	काले कालं समायरे ।	५।२।४
८	अलाभो त्ति न सोएज्जा, तवो त्ति अहियासए ।	५।२।६
९	अदीणो वित्तिमेसेज्जा	५।२।२६
१०	अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो ।	६।८
११	जे सिया सन्निहीकामे गिही पव्वइए न से ।	६।१८
१२	मुच्छा परिग्गहो वुत्तो ।	
१३	सच्चा वि सा न वत्तव्वा जओ पावस्स आगमो ।	७।११
१४	वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ।	७।५६
१५	मियं भासे ।	८।१९
१६	आसुरत्तं न गच्छेज्जा ।	८।२५
१७	देहे दुक्खं महाफलं ।	८।२७
१८	सुयलाभे न मज्जेज्जा ।	८।३०
१९	से जाणमजाणं वा कट्टु आहम्मियं पयं । संवरे खिप्पमप्पाण बीयं तं न समायरे ।।	८।३१
२०	अणायारं परकम्म नेव गूहे न निण्हवे ।	८।३२
२१	जरा जाव न पीलेइ वाही जाव न वड्ढई । जाविंदिया न हायंति ताव धम्मं समायरे ।।	८।३५

२२ कोहं माणं च मायं च लोहं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ इच्छंतो हियमप्पणो ॥ ८।३६

२३ कोहो पीइं पणासेइ माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ लोहो सव्वविणासणो ॥ ८।३७

२४ उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायं चज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥ ८।३८

२५ राइणिएसु विणयं पउंजे । ८।४०

२६ निद्दं च न बहुमन्नेज्जा । ८।४१

२७ बहुस्सुयं पज्जुवासेज्जा । ८।४३

२८ अपुच्छिओ न भासेज्जा भासमाणस्स अंतरा । ८।४६

२९ पिट्ठिमंसं न खाएज्जा । ८।४६

३० दिट्ठं मियं असंदिद्धं पडिपुन्नं वियं जियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं भासं निसिर अत्तवं ॥ ८।४८

३१ आयारपन्नत्तिधरं दिट्ठिवायमहिज्जगं ।
वइविक्खलियं नच्चा न तं उवहसे मुणी ॥ ८।४९

३२ कुज्जा साहूहिं संथवं । ८।५२

३३ न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए । ९।१।६

३४ सुस्सूसए आयरियमप्पमत्तो । ९।१।१७

३५ धम्मस्स विणओ मूलं । ९।२।२

३६ असंविभागी न हु तस्स मोक्खो । ९।२।२२

३७ मुहुत्तदुक्खा हु हवंति कंटया अओमया ते वि तओ सुउद्धरा ।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ ९।३।७

३८ गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू । ९।३।११

३९ सुयं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइयव्वं । सू० ९।४।५

४० एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं । सू० ९।४।५

४१ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा । सू० ९।४।६

४२ वंतं नो पडियायई । १०।१

४३ अत्तसमे मनेज्ज छप्पिकाए । १०।५

४४ नेय वुग्गहियं कहं कहेज्जा । १०।१०

४५ पुढवि-समे मुणी हवेज्जा । १०।१३

४६ अत्ताणं न समुक्कसे । १०।१८

४७ मणुयाण जीविए कुसग्ग जलबिंदु चंचले । चू० सू० १।१६

४८ चएज्ज देहं न उ धम्मसासणं । चू० १।१७

पारिभाषिक शब्द-कोश

मूल शब्द	स्थल	हिन्दी अर्थ
अइभूमि	५।१।२४	वह स्थान जहां पर भिक्षुओं का जाना मना हो।
अइवाय	सू० ४।११	नाश करना, वियुक्त करना।
अक्खोड	,, ४।१६	थोड़ा या एक बार झाड़ना।
अगंधन (सर्प)	२।६	वह सांप जो वमन किये (काटे गये) विष को मंत्रवादी द्वारा प्रेरित किये जाने पर भी वापिस नहीं चूसता, भले ही अग्नि-प्रवेश करना पड़े।
अचियत्त	५।१।१७	अप्रीतिकर या अप्रतीतिकर
अज्झोयर	५।१।५५	वह भोजन जो गृहस्थ द्वारा मुनि के निमित्त अधिक पकावे।
अणाइण्ण	३।१।१०	साधुओं के योग्य नहीं करने वाले कार्य।
अणाइन्न	७।२	जिसका आचरण नहीं किया गया।
अणिमिस	५।१।७३	अननास फल।
अणिह	१०।१३	छल-रहित
अणुजाण	६।१४	अनुमोदन करना।
अणुस्सिन्न	५।२।२१	अग्नि द्वारा नहीं उबाला गया।
अणोहाइय	चू० १।१	संयम से बाहर नहीं गया हुआ।
अन्नायउंछ	९।३।४ १०।१६	अपना परिचय दिये बिना अपरिचित घरों से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेने वाला।
अप्पहिट्ठ	५।१।१३	उत्सुकता-रहित।
अरइ	८।३७	अरति मोहनीय के उदय से उत्पन्न होने वाली मानसिक अप्रीति।

अल्लीण-पल्लीण-गुत्त	८।४०	इन्द्रिय और मन से संयत।
अविहेडअ	१०।१०	अविहेठक, दूसरों का तिरस्कार नहीं करने वाला।
असंथड	७।३३	असंस्तृत, फल-भार धारण करने में असमर्थ।
असंविभागि	९।२।२२	सधर्मा श्रमणों को भक्त-पान का समुचित विभाग नहीं करने वाला।
असच्चमोसा	७।३	असत्यामृषा, व्यवहारभाषा, जो न सत्य हो और न असत्य, ऐसी आमंत्रणी, आज्ञापिनी भाषा।
असत्थ परिणय	५।१।२३	वह वस्तु—जिसकी सचित्तता किसी विरोधी वस्तु द्वारा नष्ट न हुई हो।
असूइय	५।१।९८	असूपिक, व्यंजन रहित।
अहागड	१।४	यथाकृत, गृहस्थ द्वारा अपने लिए बनाया गया भोजन।
आइन्नअ	चू० २।१४	आकीर्णक, उत्तम जाति का घोड़ा।
आउरस्सरण	३।६	आतुरस्मरण, आतुर अवस्था में पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण करना।
आणुलोमिया	७।५६	आनुलोमिका, अनुकूल भाषा।
आयंक	चू० १।१	शीघ्रघाती रोग।
आययट्ठि	५।२।३४	आयतार्थी, मोक्षार्थी।
आयार-गोयर	६।२।४	आचार-गोचर, क्रिया-कलाप।
आसंदी	३।५ ६।५३ आदि	भद्रासन, बिना तकिये का आसन।
आसव	३।११ १०।५	आस्रव, कर्मों का आत्मा में आना।
,,	चू० २-३	इन्द्रिय-विजय-युक्त-प्रवृत्ति।
आसायणा	९।१।२ आदि	गुरु का अपमान, असभ्य व्यवहार।
आसालय	६।५३	आशालक, तकिया वाली कुर्सी।
आहियग्गि	९।१।११ ९।३।१	आहिताग्नि, अग्नि का उपासक, अग्नि को सदा प्रज्वलित रखनेवाला ब्राह्मण।
इट्टाल	५।१।६५	ईंट का टुकड़ा।
इत्तरिय	चू० १।१	इत्वरिक, अल्पकालिक।
इरियावहिया	५।१।८८	ऐर्यापथिकी, गमनागमन-सम्बन्धी प्रतिक्रमण क्रिया।

इहलोग	८।४३ आदि	इहलोक, वर्तमान जीवन।
उंछ	८।२३ १०।१७	नाना घरों से लिया हुआ थोड़ा आहार।
उक्कट्ठ	५।१।३४	फलों के सूक्ष्म खंड, पत्तों के टुकड़े।
उक्का	सू० ४।२०	उल्का, वह ज्योतिर्पिड जिसके गिरने के साथ चमकती रेखा दिखाई देती है।
उत्तिग	५।१।५९ ८।११।१५	कीड़ी नगरा, जन्तु विशेष।
उदगदोणी	७।२७	उदकद्रोणी, जल की कुंडी।
उद्देसिय	३।२ आदि	साधु के उद्देश से बना आहार।
उप्पिलोदगा	७।३९	दूसरी नदियों द्वारा जिसका वेग बढ़े ऐसी नदी।
उब्भिय	सू० ४।९	भूमि को फोड़कर निकलने वाला जीव।
उब्भेइय	६।१३	समुद्र के पानी से बना नमक।
उववज्झ	९।२।५,६	राजा आदि की सवारी में काम आने वाला वाहन
उवहि	६।२१ आदि	वस्त्र, पात्रादि उपकरण।
उस्सक्किया	५।१।६३	जलते हुए चूल्हे में ईंधन डालकर।
उस्सिचिया	५।१।६३	अधिक भरे पात्र में से कुछ निकालकर।
ऊसढ	५।२।२५ ७।३५	उच्च, ऐश्वर्य-सम्पन्न। ऊपर उठा हुआ।
एलयमूययया	५।२।४८	भेड़ के समान गूंगापन।
एषणा	१।३ आदि	आहार आदि की खोज करना।
एसणिय	५।१।३६ आदि	निर्दोष भक्त-पान।
ओमजण	चू० सू० १।१	नीच मनुष्य।
ओमाण	चू० २।६	वह जोमनवार— जिसमें थोड़े लोगों के लिए भोजन बनाया गया हो और खानेवाले अधिक आ जावें।
ओयायरिया	५।१।६३	आग पर रखे पात्र को नीचे उतार कर।
ओवघाइय	५।१।६३	औपघातिक, चोट पहुंचाने वाला।
ओवत्तिया	५।१।६३	अग्नि पर रखे अन्न को दूसरे पात्र में डालकर।
ओववाइय	सू० ४।९	उपपात जन्मवाले देव-नारकी।
ओवाय	५।१।४	अवपात, गड्ढा, उतार।
ओसन्न	चू० १।७	अवसन्न, निमग्न, डूबा हुआ।

ओसन्नदिट्ठाहड	चू २। ६	सावधानीपूर्वक देखकर लाया हुआ।
ओहाविअ	चू० १ श्लो० ६	साधुत्व से पतित।
ओहारिणी	७।७४ ६।३।६	अवधारिणी, निश्चयात्मक भाषा।
कायतिज्ज	७।३८	कायतार्य, तैरकर पार करने योग्य।
कालमासिणी	५।१।४०	पूर्णगर्भवती।
कासव-नालिया	५।२।२१	श्रीपर्णी वृक्ष का फल।
कीयगड	३।१ ५।१।५५	क्रीतकृत, साधु के लिए खरीदा हुआ।
कुंडमोय	६।५०	कूंडे के आकार या हाथी के पैर के आकार वाला मिट्टी का बरतन।
कुक्कुस	५।१।३४	धान्य-कण-युक्त तुष, भूसा।
कुतत्ति	चू० १ श्लोक ७	कुतृप्ति, दुश्चिन्ता।
कुम्मास	५।१।९८	कुल्माष, उड़द।
कुललओ	८।५३	कुललकस्, बिल्ली से।
कुसील	६।५८ १०।१८	निन्द्य आचरण वाला।
केज्ज	७।४५	क्रेय, खरीदने के योग्य।
कोल	सू० ४।३२	घुन।
,,	५।२।२१	बेर, बोर।
खंध	६।२।१	स्कन्ध, वृक्ष का तना, जिससे शाखाएं निकलती हैं।
खंधबीय	सू० ४।८	स्कन्धबीज, वह वनस्पति जिसका स्कन्ध ही बीज हो।
खलीण	चू० २।१४	खलिन, घोड़े की लगाम।
खाइम	५।१।४७ आदि	खादिम, खाद्य, खाजा आदि खाने के योग्य पदार्थ।
खाणु	५।१।४७ आदि	स्थाणु कुछ ऊपर उठा हुआ वृक्ष का कटा ठूंठ।
खेल	८।१८	क्ष्वेल, श्लेष, कफ।
गंडिया	७।२८	गंडिका, अहरन, ऐरन।
गंधणा (सर्प)	२।८	सांपों की वह जाति, जो वमन किये विष को वापिस पी (चूस) लेता है, गन्धन कहलाती है।
गंभीरविजय	६।५५	ऊँचे छेदवाला।

गल	चू० १ श्लो० ७	वंशी, मछली फंसाने का कांटा ।
गहण	८।११	गहन, वन, वृक्ष-निकुंज ।
गाम-कंटअ	१०।११	ग्राम-कंटक, कांटों के समान चुभने वाले इन्द्रिय विषय ।
गाया-भंग	३।६	गात्राभ्यंग, शरीर की मालिश ।
गिहंतर-निसेज्जा	३।५	घर के भीतर बैठना, दो घरों के बीच में बैठना ।
गिहि-मत्त	३।३	गृहामत्र, गृहस्थ का बरतन, पात्र ।
गुज्झग	११।२।१०	गुह्यक, यक्ष, देव ।
गुज्झाणुचरिय	७।५३	गुह्यकानुचरित, आकाश ।
गोच्छग	सू० ४।२३	पात्र ढाँकने के वस्त्र को साफ करने का वस्त्र ।
गोण	५।१।१२	बैल ।
गोभि	७।१६	गोमान , पुरुष की प्रशंसा-सूचक शब्द ।
गोभिणी	७।१६	गोमिनी स्त्री की प्रशंसा-सूचक शब्द ।
गोरहग	७।२४	बैल ।
घसा	६।६१	पोली जमीन ।
चंगबेर	७।२८	काष्ठ पात्र, काठ की प्याली ।
चाउलोदग	५।१।७५	चावल का धोवन ।
चियत	५।१।१७ ५।१।६५	प्रीतिकर या प्रतीतिकर ।
चुल्लपिउ	७।१८	पिता का छोटा भाई, काका, चाचा ।
छंदिय	१०।६	निमंत्रित कर ।
छण	६।५१	हिंसा करना ।
छविइय	७।३४	फली-युक्त ।
छाय	६।२।७	जिसके शरीर में कशाघात से घाव हो गये हों, भूखा ।
छारिय	५।१।७	क्षार-(राख) सम्बन्धी ।
छिवाड़ी	५।२।२०	मूंग आदि की फली ।
छूढ	चू० १ श्लो० ५	क्षिप्त फेंका हुआ, बन्दी किया हुआ ।
छेय	४ श्लो० ११, ११	क्षेय, हित ।
जंतलट्ठि	७।२८	यंत्र-यष्टि, कोल्हू की लकड़ी, लाट ।
जगनिस्सिय	८।२६	जीव-रक्षा में तत्पर ।

जन्न	५।१।६ आदि	यज्ञ।
जल्लिय	८।१८	शरीर का मैल।
जवण	६।३।४	यापन, जीवन-निर्वाह।
जाइपह	६।१।४ आदि	जाति-पथ, संसार।
जुगमाया	५।१।३	युगमात्रा, चार हाथ-प्रमाण।
झुसिर	५।१।६६	शुषिर, पोला।
झोसइत्ता	चू० १ सू० १	सुखाकर।
टाल	७।३२	कोमल फल, गुठली उत्पन्न होने से पहिली अवस्था का फल।
तज्जायसंसट्ठ	२।६	तज्जातसंसृष्ट, सजातीय द्रव्य से लिप्त।
तत्तनिव्वुड	५।२।२२	गर्म होकर ठंडी हुई वस्तु।
तत्तफासुय	८।६	तपाकर निर्जीव हुआ पदार्थ।
तिरिच्छ संपाइम	५।१।८	उड़कर आ गिरने वाले छोटे जन्तु।
तुंबाग	५।१।७०	कद्दू फल, तूंबा।
तुयट्ट	सू० ४।२२	सोना, करवट लेना।
तेगिच्छा	३।४	रोग की चिकित्सा करना।
थंभ	९।१।१ ९।३।१२	स्तम्भ, अहंकार।
थद्ध	९।२।३	गर्वोन्मत्त।
थिग्गल	५।१।१५	ईंट आदि से रोका हुआ द्वार।
दन्तपहोयणा	३।३	दांत धोना।
दन्तवण	३।९	दातुन करना।
दगभवण	५।१।१५	जल-गृह।
दगमट्टिया	५।१।३ ५।१।३६	गीली मिट्टी, कीचड़।
दम्म	७।२४	दम्य, दमन करने के योग्य, बोझा ढोने के योग्य।
दवदव	५।१।१४	जल्दी या उतावल से चलना।
दव्वी	५।१।३२ ५।१।३५-३६	कड़छी, दाल आदि परोसने का चम्मच।
दाइय	५।२।३१	दर्शित, दिखाया हुआ।
दुज्झ	७।२४	दोह्य, दुहने के योग्य।
दुत्तोसअ	५।२।३२	दुस्तोषक, जो सहज में सन्तुष्ट न हो।

दुप्पडिकंत	चू० १ सू० १	जिसका प्रतिक्रमण न किया हो।
दुम्मणिय	९।३।८	दौर्मनस्य, खोटी मनोवृत्ति।
दुरहिट्ठिय	६।४	दुरधिष्ठित, दुर्धर।
दुव्विहिय	चू० १ श्लोक १२	विधि-विधान से प्रतिकूल आचरण।
दुस्सेज्जा	८।२७	सोने की विषमभूमि।
देह-पलोयणा	३।३	दर्पण आदि में शरीर देखना।
धाय	७।५१	सुभिक्ष।
धुण	४।२० ६।६७	झाड़ना, हिलाना।
धुवजोगि	१०।६	मन, वचन, काय की स्थिर प्रवृत्ति वाला।
धुवसीलया	८।४०	ध्रुव-आचरण, शील के अठारह हजार भेदों का पालन।
धूमकेउ	२।६	अग्नि।
धूवणेत्ति	८।४०	धूमनेत्री, धूम पीने की नली, चिलम।
नंगल	७।२८	लाङ्गल, हल।
नत्तुणिय	७।१८	नाती, बेटी का बेटा, धेवता।
नत्तुणिया	७।१५	नातिनी, बेटी की बेटी, धेवती।
नाणापिंड	१।५	अनेक घरों से लाया भोजन।
नालीय	३।४	पासा डाल कर खेला जानेवाला जुआ।
निअच्छ	९।२।१४	नियन्त्रण करना।
निगामसाइं	४।२६	काल-मर्यादा से अधिक सोने वाला।
ग्गहण	३।११	इन्द्रिय और मन का निग्रह करने वाला।
ह्नव	८।३२	मुकर जाना।
द्धुणे	७।५७	झाड़कर।
निप्पुलाअ	१०।१६	निष्पुलाक, निर्दोष।
नियडि	५।२।३७	निकृति, वंचना, माया।
नियाग	३।२ ६।४८	नित्याग्र, निमंत्रित कर नित्य दिया जाने वाला भोजन-पानादि।
निरासय	९।४ सू० ६ श्लो० ४	निराशक, प्रतिफल की आशा न रखने वाला।
निव्वडिय	६।२४	निपतित गिरा हुआ।
निसंत	९।१।१४	निशान्त, प्रभातकाल।
निसिर	८।४८	बाहर निकालना।
निसीहिया	५।२।२	निषीधिका, स्वाध्यायभूमि।

निस्सिय	१०।४	निश्रित, आश्रित ।
निहा	१०।८	संचय कराना ।
निहुअ	२।८ ६।३	निश्चल, स्थिर चित्त वाला ।
नीसा	५।१।४५	चक्की का पाट ।
पइरिक्कया	चू० २।५	प्रतिरिक्तता, एकान्तता ।
पओअ	६।२।१६	प्रतोद, चाबुक ।
पंडग	७।१२	पंडक, नपुंसक ।
पंसुखार	३।८	ऊषर का खार, नोनी मिट्टी ।
पक्खोड	सू० ४।१६	बार-बार झटकना ।
पच्छाकम्म	५।१।३५ ६।५२	साधु को भिक्षा देने के बाद सचित्त जल से हाथ धोना आदि कार्य ।
पज्जय	७।१८	परदादा, परनाना ।
पज्जिया	७।१५	परदादी, परनानी ।
पडागा	चू० १ सू० १	पताका, पतवार ।
पडिआय	१०।१	वापिस पीना (वापिस लेना)
पडिकुट्ठ	५।१।१७	निषिद्ध ।
पडिग्गह	५।१।२७ आदि	प्रतिग्रह, ग्रहण करना ।
पडिच्छ	५।१।३६ ५।१।३८	लेना ।
पडिण	६।३३	प्रतीचीन, पश्चिम दिशा-सम्बन्धी ।
पडिआइक्ख	५।१।२८ आदि	निषेध करना ।
पडियाइयण	चू० १ सू० १	वापिस पीना या वापिस लेना ।
पडिलेह	५।१।२५ ५।२।५	प्रतिलेखन करना, निरीक्षण करना ।
पडिसोय	चू० २।२।३	प्रतिस्रोत, भोग-विरक्ति ।
पणग	५।१।५९ ८।११	पनक, काई, साधारण निगोदिया जीववाली वनस्पति ।
पणिय	७।४५	पण्य, बेचने योग्य वस्तु ।
पणियट्ठ	७।३७	पण्यार्थ, स्वार्थसिद्धि के लिए अपने प्राणों को खतरे में डालनेवाला, या प्राणों की बाजी लगाकर बेंच-खरीद करनेवाला ।
पणुल्ल	५।१।१८	खोलना ।

पसेइल	७।२२	प्रसाद।
पयत्तलट्ठ	७।४२	प्रयत्न से सुन्दर किया गया।
पयावंत	सू० ४।१६	बार-बार सुखाता हुआ।
परग्घ	७।४३	परार्घ्य, बहुमूल्य।
पवील	४ सू० १६	निचोड़ना।
पाणहा	३।४	उपानह्, जूता।
पाणिपेज्जा	७।३७	प्राणिपेया, तट पर बैठे प्राणियों के द्वारा पीने योग्य जल वाली नदी।
पामिच्च	५।१।५५	साधु को देने के लिए उधार लिया अन्न-पान।
पायखज्ज	७।३२	पाकखाद्य—भूसे आदि में रखकर पकाने के बाद खाने योग्य फल।
पारत्त	८।४३	परत्र, परलोक।
पावार	५।१।१८	प्रावार, कम्बल आदि ओढ़ने का वस्त्र।
पिउस्सिय	७।१५	पितृस्वसा, पिता की बहिन, बुआ।
पिंड	६।४७	अन्नपिंड, भोजन।
पिट्ठ	५।१।३३ ५।२।२२	पिष्ट, आटा।
पिट्ठिमंस	८।४६	चुगली।
पिण्णाग	५।२।२२	तिल-सरसों आदि की खली।
पियाल	५।२।२४	चिरोंजी।
पिहुखज्ज	७।३४	पृथुखाद्य, चिवड़ा बनाकर खाने योग्य।
पिहुजण	चू० १ श्लो० १३	साधारण मनुष्य।
पिहुण	४।सू० २१	मोर-पंख।
पिहुणहत्थ	४।सू० २१	मोर-पिच्छी।
पुरिसकारिया	५।२।६	पुरुषकारिता, पुरुषार्थ, उद्योग।
पुरेकम्म	५।१।३२ ६।५३	पुरः कर्म, भिक्षा देने के पूर्व सचित्त जल से हाथ आदि धोना।
पुल	१०।१६	उन्मत्त, पागल।
पुई	५।१।७८ ५।२।२२	पूति, दुर्गन्ध-युक्त।
पूइकम्म	५।१।५५	वह भोजन आदि, जिसमें साधु के लिए बनाये भोजन आदि का अंश मिला हो।

पुइम	चू० १ श्लो० ४	पूज्य ।
पूय	५।१।७१	पूप, पुआ ।
पेहा	२।४	प्रेक्षा, दृष्टि ।
पोय	८।५३	पोत, बच्चा ।
पोयय	४।सू० ६	पोतज, जरा-रहित उत्पन्न होने वाला ।
पोरबीय	४।सू० ८	पर्व बीज, जिसकी पोर ही बीज हो, ऐसे गन्ना आदि ।
फलग	५।१।६७	फलक, तख्ता, काठ का पाटिया ।
फलिह	५।२।६ ७।२७	परिघ, दरवाजे का आगल ।
फाणिय	५।१।७१ ६।१७	फाणित, राब, द्रव-गुड़ ।
फुम	४।सू० २१	फूंकना ।
बप्प	७।१८	बाप, पिता ।
बलाहय	७।५२	बलाहक, मेघ ।
बहुअट्ठिय	५।१।७३	बहुत बीज या नसा-जालवाला ।
बहुनिव्वट्टिम	७।३३	गुठली वाला फल ।
बहुवाहड	७।३६	अधिकांश भरा हुआ ।
बहुसंभूय	७।३३ ७।३५	जिस वृक्ष के अधिक फल पक गये हों ।
बिड	६।१७	कृत्रिम नमक ।
बिल्ल	५।१।७३	बिल्व, बेल का फल ।
बिहेलग	५।२।२४	विभीतक, बहेडा ।
बीयरुह	४।सू० ८	बीजरुह, बीज से होने वाली वनस्पति
भज्जिम	७।३४	भर्जनीय, भूनने के योग्य ।
भत्त	१।३ आदि	भक्त, भोजन ।
भद्दग	५।२।३३ ८।२२	भद्रक, भला, श्रेष्ठ व्यक्ति ।
भाइणेज्ज	७।१८	भागिनेय, बहिन का पुत्र, भानजा ।
भाइणेज्जा	७।१५	भागिनेया, बहिन की पुत्री, भानजी ।
भिलुगा	६।६१	भूमि की दरार, फटी हुई जमीन ।
भूयरूव	७।३३	भूतरूप, वह वृक्ष—जिसके फलों में गुठली न पड़ी हो ।
भेयाययणवज्जि	६।१५	संयम-भंग के स्थान का त्यागी ।

मइअ	७।२८	मतिक, बोये हुए बीजों को ढांकने का एक काष्ठ-उपकरण, खेती का एक औजार।
मंच	५।१।६७	मंचान।
	६।५३	खाट।
मंथु	५।१।८६	बेर आदि का चूर्ण।
मगदंतिया	५।२।१४,१६	मोगरे का फूल, मालती-पुष्प।
मणोसिला	५।१।३३	मैंनसिल।
मल्ल	३।२	माला।
महग्घ	७।४६	महार्घ्य, बहुमूल्य।
महल्ल	७।२६ ७।३०	महान, बड़ा-बूढ़ा।
महागर	६।१।१६	महान आकार, महान गुणों की खान।
महिया	४।सू० १६ ५।१।८	मिहिका, कुहरा, धूंअर।
महुगार	१।५	भौंरा।
माउल	७।१८	मातुल, मामा।
माउस्सिया	७।१५	मातृस्वसा, मां की बहिन, मौसी।
मायण्ण	५।२।३ ५।२।२६	भक्त-पानादि की मात्रा का जानकर।
मालोहड	५।१।६९	ऊपरी मंजिल से लाया हुआ भक्त-पान।
मिहोकहा	८।४१	रहस्यपूर्ण या एकान्त की बात।
मीसजाय	५।१।५५	गृहस्थ व साधु के लिए मिश्रित पकाया भोजन।
मुणालिया	५।२।१८	कमल नालिका।
मुम्मुर	४ सू० २०	मुर्मुर, अग्निकण-युक्त राख।
मुहाजीवी	५।१।९९-१०० ८।२४	निदान या आसक्ति-रहित जीने वाला।
मुहादाई	५।१।१००	फल की इच्छा किये बिना देनेवाला।
मुहालद्ध	५।१।९९	मंत्र-तन्त्रादि किये बिना प्राप्त।
मूलग	५।२।२३	मूला, मूली।
मूलगत्तिया	५।२।२३	मूली की फांक।

मरेग	५।२।३६	पहली बार खींचा गया मद्य।
रयहरण	४ सू० २३	रजोहरण, ओघा।
रसदया	७।२५	दूध देने वाली।
रसनिज्जूढ	८।२१	रस-सहित।
रसय	४ सू० ९	रस में उत्पन्न होने वाला जीव।
रस्सि	चू० १ सू० १	रश्मि, लगाम।
रहस्स	५।१।१६ ७।२५	गुप्त स्थान। ह्रस्व, छोटा।
राइणिय	८।४० ९।३।३	रात्निक, पूज्य, दीक्षा-ज्येष्ठ।
रायपिंड	३।३	राजा का आहार।
रोमालोण	३।८	खान का नमक।
लयण	८।५१	घर।
लहुस्सग	चू० १ सू० १	लघुस्वक, तुच्छ।
लाइम	७।३४	लवणीय, काटने के योग्य।
लूस	५।१।६८	तोड़ना।
लेलु	४ सू० १८ ८।४	मिट्टी का ढेला।
लोण	३।८ आदि	लवण, नमक।
लोद्ध	६।६३	लोध्र एक सुगंधित द्रव्य।
वच्छग	५।१।२२	बछड़ा।
वणिमय	५।१।५१	कृपण, कंजूस।
वणीमग	५।२।१०	वनीपक, कृपण।
वण्णिया	५।१।३४	वर्णिका, पीली मिट्टी।
वत्थिकम्म	३।९	वस्तिकर्म, एनिमा लेना।
वसुल	७।१४ ७।१९	वृषल, शूद्र, पुरुष का अपमान-सूचक अव्यय।
वसुला	७।१६	वृषला, शूद्रा, स्त्री का अपमान-सूचक अव्यय।
वारधोवण	५।१।७५	गुड़ के घड़े का धोया हुआ पानी।
विउलट्ठाणभा।	६।५	विपुल स्थानभागी, संयमसेवी।
विडिम	७।३१	विटपी, वृक्ष।
विरालिया	५।२।१८	पलाश का कन्द, क्षीर विराली वनस्पति।

विसोत्तिया	५।१।९	चित्त-विलुप्ति, संयम से मन का मुड़ना।
विहुयण	४।सू० ११ ६।३७, ८।९	विधुवन, पंखा।
वीयावेउण	६।३७	हवा करने के लिए।
वेहिम	७।३२	दो टुकड़े या फांक करने के योग्य फल।
सइकाल	५।२।६	स्मृतिकाल, भिक्षा का उचित समय।
संकम	५।१।४	पुल, जल को लांघने के लिए रखा काठ या पत्थर।
संखडि	७।३६-३७	संस्कृति, भोज, जीमनवार।
संघाय	४।सू० २३	संघात, एक जगह अवस्थान।
संडिब्भ	५।१।१२	बालकों के खेलने का स्थान।
संथर	५।२।२	तृप्त होना, निर्वाह करना।
संथार	८।१७ ९।३।५	बिस्तर, बिछौना।
संपणोल्लिया	५।१।३०	हिलाकर।
संसट्ठकप्प	चू० २।६	संसृष्टकल्प, भोज्य वस्तु से लिप्त कड़छी आदि से आहार लेने की विधि।
संसेइम	४।सू० ९	संस्वेदज, पसीने से उत्पन्न होने वाला जीव।
संसेइम	५।१।७५	संसेकिम, आटे का धोवन।
सक्कुलि	५।१।७१	शष्कुलि, तिलपपड़ी।
सत्थपरिणय	४।सू० ४ से ८	शस्त्रपरिणत, विरोधी वस्तु के द्वारा अचित्त की हुई वस्तु।
सन्निर	५ १।७०	शाक-भाजी।
सन्निवेस	५।२।५	गांव।
सबीय, सबीयग	४।सू० ८	बीज आदि दश अवस्थाओं से युक्त वनस्पति।
संमद्दिया	५।२।२६	मर्दन कर, कुचल कर।
सम्मुच्छिम	सू० ४।सू० ८ ४।सू० ९	बिना बीज के ऊगनेवाली वनस्पति। बिना गर्भ के इधर-उधर के पुद्गल-परमाणुओं के सम्मेलन से उत्पन्न होने वाला जीव।
सरीसिव	७।२२	सरीसृप, सांप आदि पेट के बल से सरकने वाले जीव।
सविज्जविज्जा	६।६९	आत्मविद्या का ज्ञान।

ससरक्ख	४।सू० १८ ५।१।७ आदि	सचित्त रज-युक्त।
साइम	४।सू० १६ आदि	स्वादिम, स्वाद युक्त मेवा आदि पदार्थ।
साण	५।१।१२, २२ ७।१६	श्वान, कुत्ता। अपमान-सूचक शब्द।
साणी	५।१।१८	सन की बनी चिक।
सालुय	५।२।१८	कमल का कन्द।
सावज्ज	६।३६ आदि	सावद्य, पाप-युक्त।
सासवनालिया	५।२।१८	सरसों की नाल।
सिंगबेर	३।७ आदि	शृंगबेर, अदरक।
सिंधव	३।८	सेंधा नमक।
सिंबलि	५।१।७३	सेम की फली।
सिलोग	६।४ सू० ६।७	प्रशंसा।
सिहि	६।१।३	शिखि, अग्नि।
सुद्धपुढवी	८।५	शस्त्र-अपरिणत सचित्त पृथ्वी।
सुद्धागणि	४।सू० २०	धूम और ज्वाला-रहित अग्नि।
सुद्धोदग	४।सू० १९	अन्तरिक्ष जल।
सुनिट्ठिय	७।४१	बहुत अच्छा पकाया गया।
सुलट्ठ	७।४१	बहुत सुन्दर।
सुहड	७।४१	बहुत अच्छा हरण किया हुआ।
सुहर	८।२५	सुभर, अल्प आहार से तृप्त होने वाल
सुइय	५।१।९८	सूपिक, मसालेदार व्यंजन।
सूइया	५।१।१२	नव-प्रसूता।
सेज्जायर-पिंड	३।५	साधु जिसके घर में रहे उसका आहार।
सोंडिया	५।२।३८	मदिरापान की आसक्ति, उन्मत्तता।
सोरट्ठिया	५।१।३४	सौराष्ट्र की मिट्टी, गोपीचन्दन।
सोवच्चल	३।८	संचल या संचुर नमक।
हंबि	६।४	सम्बोधनार्थक अव्यय।
हड	२।९	जल में उत्पन्न होने वाली वनस्पति।
हत्थग	५।१।८३	हस्तक (रुमाल) मुखवस्त्रिका।
हरतणुग	४।सू० १९	भूमि को भेदकर निकले जल-बिन्दु।

हल	७।१९	मित्र का सम्बोधन।
हला	७।१६	स्त्री का सम्बोधन।
हव्ववाह	६।३४	अग्नि।
हस्स-कुहअ	१०।२०	हंसाने के लिए कुतूहल-पूर्ण चेष्टा करनेवाला।
हाअ	८।३५ ८।४०	क्षीण होना।
हिम	४ सू० १९ ८।६	हिम, पाला, तुषार।
होल	७।१४ ७।१९	पुरुष का अपमान-सूचक शब्द।
होला	७।१६	स्त्री का अपमान सूचक शब्द।



हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन

१	श्री मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रंथ	अप्राप्य
२	पाण्डव यशोरसायन (महाभारत)	१०)
३	श्री मरुधर केसरी ग्रंथावली भाग १	५)५०
४	,, ,, भाग २	७)
५	जैनधर्म में तप : स्वरूप और विश्लेषण	१०)
६	जीवन ज्योति	५)
७	साधना के पथ पर	५)
८	प्रवचन प्रभा	५)
९	धवल ज्ञान धारा	५)
१०	प्रवचन सुधा	८)
११	संकल्प विजय	२)
१२	सप्त रत्न	२)
१३	मरुधरा के महान संत	२)
१४	हिम्मत विलास	२)
१५	सिंहनाद	१)
१६	बुध-विलास भाग १	१)
१७	,, भाग २	१)
१८	श्रमण सुरतरु चार्ट	५)
१९	मधुर पंचामृत	१)
२०	तकदीर की तस्वीर (श्रीपाल चरित्र)	
२१	तीर्थंकर महावीर	८)
२२	कर्मग्रन्थ (भाग १ से ६ तक)	(प्रेस में)

श्री मरुधर केसरी साहित्य-प्रकाशन समिति

पीपलिया बाजार (ब्यावर)

मरुधरकेशरी, प्रवर्त्तक
मुनि श्री मिश्रीमल जी

दशवैकालिक सूत्र

प्रस्तुत पुस्तक के...

दशवैकालिक सूत्र की हिन्दी व्याख्या एवं पद्यमय ललित भाषानुवाद करने वाले मनीषो प्रवर हैं - मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज ! आप श्रमण संघ के प्रवर्तक पद को सुशोभित करते हैं, अपनी श्रुत एवं तपोजन्य तेजस्विता के कारण 'मरुधरकेसरी' के विरुद को सार्थक किया है। काव्य-क्षेत्र में अद्वितीय प्रतिभा ने आपको 'आशुकविरत्न' के अलंकरण से मंडित किया है।

सरलमना, उदार चेता, सफल वाग्मी, मधुर कवि, समाज संघटक, शिक्षा प्रचारक तथा स्थानकवासी जैन जगत की विरल विभूति श्री मरुधरकेसरी जी म० ८० वर्ष की आयु में भी मध्यंदिन के सूर्य की भाँति प्रभास्वर हैं, सतत कार्यशील